शीराज़ा
हिन्दी

जनवरी–मार्च, १९७९

●

४४

शीराज़ा

हिन्दी

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ़ टेंग

सम्पादक
रमेश मेहता

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू।

वर्ष : १४ जनवरी–मार्च, १६७६ अंक : ४

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार

रमेश मेहता

सम्पादक : शीराज़ा हिन्दी

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़,

नहर मार्ग, जम्मू ।

फोन नं० : ५०४०

वार्षिक शुल्क : आठ रुपये यह अंक : दो रुपये

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, स्वत्वाधिकारी के लिए श्री मुहम्मद यूसुफ़ टेंग, सचिव द्वारा प्रकाशित एवं सिंह प्रिंटर्ज़, कृष्णा नगर, नहर मार्ग जम्मू द्वारा मुद्रित ।

शीराज़ा हिन्दी

पूर्णांक : ४४

वर्ष : १४ जनवरी–मार्च, १९७९ अंक : ४

अनुक्रमणिका

कविताएं

स्थायी स्तम्भ

अपनी बात

कुछ वर्ष पूर्व अकादमी द्वारा आयोजित एक लेखक सम्मेलन में जब एक विद्वान लेखक ने जम्मू-कश्मीर में रचे जा रहे हिन्दी साहित्य का लेखा-जोखा लेते हुए एक कहानी विशेष को विवेचित करने का प्रयास किया तो उपस्थित लेखकों ने उन्हें यह कह कर टोक दिया कि संदर्भित कहानी अपने मूल रूप में "अमुक" भाषा की "अमुक" पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी है। अतः हिन्दी भाषा के संदर्भ में इसका मूल्यांकन तो क्या चर्चा तक भी अनपेक्षित ही कही जायेगी। लेकिन इधर कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर, दनदनाते हुए, लेखकीय ईमानदारी की धज्जियां उड़ाने में व्यस्त हैं। इस पर तुर्रा यह कि यह सारा अनाचार वह अपना अधिकार समझते हुए कर रहे हैं। 'वे' अपनी कुछ ऐसी कृतियों की 'मार्केट' बनाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं जो दूसरी भाषाओं का उल्था मात्र हैं और एक के स्थान पर तीन-तीन भाषाओं में छप कर प्रत्येक भाषा की "मूल' रचना होने का गौरवमय एहसास पाले हुए हैं।

हमें लगता है कि यही वह परिस्थितियां हैं जिनके चलते आज साहित्य में ईमानदारी और प्रतिबद्धता को लेकर चलने वाली बहसें दम तोड़ गई हैं। आजकल बहस का मुद्दा "भाषा के प्रति ईमानदारी" है। क्योंकि संचार साधनों के विकास तथा पत्र-पत्रिकाओं, पुरस्कारों तथा अन्य साधनों से होने वाले आर्थिक लाभ की चकाचौंध में दूसरों को आदर्श तथा ईमानदारी

का पाठ पढ़ाने वाला लेखक स्वयं इन दोनों से किनारा कर लेता है। एक ही रचना को अनेक भाषाओं की मूल रचना घोषित करना साहित्यिक बेईमानी का सबसे घृणित रूप है। इससे न केवल "भाषा का अहित" होता है अपितु किसी भाषा विशेष की नई पीढ़ी को खिलने से पूर्व ही मुर्झाने के लिए अभिशप्त होना पड़ता है। ऐसे लेखक व्यक्तिगत जान-पहचान और लेन-देन के सम्बन्धों के आधार पर "सही लेखक" के अधिकारों पर डाका डालने में समर्थ सिद्ध होते हैं। यह प्रवृत्ति भाषा और साहित्य दोनों के लिए घातक है।

—सम्पादक अथवा पाठक सर्वज्ञ नहीं होता और न ही उससे यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह देश की अथवा अपने अंचल की ही प्रत्येक भाषा में प्रकाशित होने वाली रचनाओं और उनके लेखकों के विवरण से आवश्यक रूप से परिचित हो। यह जिम्मेदारी, वास्तव में, स्वयं लेखक की है कि वह रचनात्मक ईमानदारी को पहली शर्त मानते हुए एक भाषा की रचना को किसी दूसरी भाषा में प्रकाशित करवाते समय पाठकों को उस रचना की मूल भाषा की सूचना दे। यदि वह अनेक भाषाओं में अपने को साधिकार अभिव्यक्त करने में सक्षम है तो प्रत्येक भाषा में उसका स्वागत किया जाना चाहिए—शर्त केवल इतनी है कि वह प्रत्येक भाषा में "मौलिक सृजन" करे न कि एक ही रचना का मूल के नाम पर अनेक भाषाओं में अनुवाद करे। ऐसा करके वह न केवल साहित्य, भाषा एवं पाठक के साथ न्याय करेगा अपितु अपनी पूरी पीढ़ी के प्रति उत्तरदायी और ईमानदार होने का दावा भी कर सकेगा।

—रमेश मेहता

विचार

समकालीनता और विचार कविता

—डॉ० बलदेव वंशी

'समकालीनता' में एक ही समय में रहने या होने का अर्थ निहित है, जो अंग्रेजी भाषा के 'कनटैंपोरेरी' का हिन्दी पर्याय है। आधुनिक हिन्दी आलोचना में समकालीनता के पर्याय रूप में 'समसामयिकता' का प्रयोग भी किया जाता है। सामयिकता को 'सम' शब्द लगा कर बना यह शब्द पारिभाषिक चरित्र धारण कर चुका है। 'सम' के अनेक अर्थों में से 'अभिन्न', 'सदृश्य', 'समग्र', 'निष्पक्ष' ही समसामयिकता को उस की पारिभाषिक अर्थ-पत्तियों के निकट लाने वाले प्रतीत होते हैं। आज साहित्य में समकालीनता या समसामयिकता का, विशेष कर काव्य के क्षेत्र में, खास सन्दर्भ एवं अर्थ लिया जाता है, जो प्रचलित अर्थों से सर्वथा भिन्न है।

कुछ लोग समकालीनता के प्रचलित अर्थों को लेने की गलती करते हैं। इस से बड़ा भ्रम उत्पन्न होता है। वे सामयिकता या तात्कालिकता को ही समकालीनता या समसामयिकता समझ लेते हैं; जब कि इन में बड़ा गहरा अन्तर है। 'समकालीनता' समग्र चेतना है, जो सामयिक सन्दर्भों, दबावों और तकाज़ों के तहत विशिष्ट स्वरूप धारण करती है। इस में कोई शक नहीं कि समकालीनता अपने देश-काल के विशिष्ट सन्दर्भों से ही स्वरूप लेती है, उन के बिना उस की स्थिति संभव नहीं है; तो भी वह मात्र सामयिक सन्दर्भों तक ही सीमित नहीं है। डा० नरेन्द्र मोहन इस सन्दर्भ में लिखते हैं : ''समकालीन कविता केवल परिवेश-परिदृश्य चित्रण नहीं है। केवल

परिवेशगत यथार्थ के चित्रण या बयान से जैसे कविता नहीं बनती वैसे ही मानसिक वृत्तियों के विवरण देने से भी कविता नहीं बनती। सामाजिक-राजनीतिक स्थिति के बयान भर से, उन का महज चित्रण कर देने से, सामयिक राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं और समस्याओं का उल्लेख भर कर देने से परिवेश का केवल सूचनात्मक ज्ञान प्राप्त होता है—ऊपरी, सामान्य और चालू प्रतिक्रियाओं का एक ढांचा मात्र है। इन से स्थितियों की भीतरी हलचलों की कोई प्रौढ़ ज्ञानात्मक संवेदना नहीं जग पाती।"[1]

'परिवेशगत यथार्थ चित्रण' समकालीनता नहीं है। उस की भीतरी हलचलों, गतिविधियों की ज्ञानात्मक संवेदना जगाना समकालीन काव्य-व्यवहार है। इसे पकड़ना समकालीनता के निकट है। "वर्तमान स्थितियों आदि को प्राथमिकता दिये बिना यह संभव नहीं है। समकालीनता की रुचि, दृष्टि, स्थितियों, दशाओं, सम्बन्धों, घटनाओं को ऊपरी स्तर पर न ले कर परोक्ष, अतीत, छिपे, अमूर्त्त रूपों की तलाश करती है। ऊपरी बाह्य, प्रकट को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लेती।

श्री सुरेन्द्र चौधरी का कहना है कि "तात्कालिकता के समस्त संगठन तत्व समकालीन नहीं होते पर तात्कालिकता ही समकालीनता की अन्तर्दशाओं को रूप देती है। ये अन्तर्दशाएं युग विशेष की काव्य प्रवृत्ति का निर्माण करती हैं और इस प्रकार समकालीनता का काल-सन्दर्भ में विस्तार होता रहता है, जब कि प्रत्येक तात्कालिकता केवल पीछे छूटती जाती है।"[2] यहां समय के बहाव में तात्कालिकता महज़ पीछे छूटता जाने वाला तत्व है जब कि तात्कालिक सन्दर्भों से बनी सतत विकासमान चेतना, समकालीनता का तत्व है।

समकालीनता की बोध एवं चेतनागत प्रतीतियां, जिन विशिष्ट गुणों की अवधारक हैं, वे विभिन्न पीढ़ियों के रचनाकारों को एक ही देश-काल में रचनारत रहते भी अलग-अलग पहचान देने में समर्थ हैं। समकालीन रचना में चेतनागत विशिष्ट व्यवहार और अनुभव आदि के कई ऐसे बिन्दु

---

1. डा० नरेन्द्र मोहन, कविता की वैचारिक भूमिका : (भूमिका से)
2. सुरेन्द्र चौधरी : 'समकालीन कविता पर एक बहस', पृ० 17 पर उद्धृत।

हैं, जहां कोई रचना सामयिक तो हो सकती है किन्तु समसामयिक या समकालीन नहीं कही जा सकती। दूसरे शब्दों में मात्र सामयिक होना, एक ही समय में विद्यमान रह कर रचना करना समकालीनता नहीं है। एक ही काल की घटनाओं को अपने काव्य-विषय बनाने वाले दो विभिन्न पीढ़ियों के रचनाकारों की रचनाएं अपने युग की मानसिकता, अनुभव एवं व्यवहार में एक समान नहीं होंगी। प्रत्येक युग की अपनी मानसिक बनावट, व्यवहार आदि पृथक होने के कारण उन के आचरण भी भिन्न होते हैं।

इस सन्दर्भ में डा० रघुवंश लिखते हैं "केवल युग विशेष के परिवेश का साहित्य में प्रतिफलित हो जाना अथवा उस के जीवनगत विविध पक्षों का काव्य में चरित्र, आचरण, मूल्य की व्यंजनाओं के साथ परिस्थिति रूप ग्रहण कर लेना समसामयिकता नहीं है। यह काव्य में सामयिक सन्दर्भों की बात है; समसामयिकता का वह बोध नहीं, जो क्रमशः आज की कविता में सर्जन-शीलता का अन्वेषण करने में संलग्न है।"[1] यों तो प्रत्येक युग अपने समय और परिवेश से सम्बद्ध रहता है और इस सम्बद्धता के कारण ही जाना पहचाना जाता है। वह युगीन प्रभावों से प्रभावित होता और प्रभावित करता है; किन्तु कुछ तत्व ऐसे होते हैं जो युगीन अनिवार्यताओं से अधिक गहरे जुड़े होने के कारण युग-परिवर्तन के साथ ही छूट जाते हैं। इतना ही नहीं वे व्यर्थ भी लगने लगते हैं। ऐसा प्रायः प्रत्येक युगीन प्रवृत्तियों के साथ घटित होता है। "हिन्दी के भक्तिकाल, द्विवेदी युग और छायावादी युग के काव्य में मूल्यों की रचना-प्रक्रिया को देखा जा सकता है। पर ध्यान देने की बात है कि ये प्रक्रियाएं उसी सीमा तक सही भाषिक अभिव्यक्ति ग्रहण कर सकी हैं, जहां तक इन का युग सन्दर्भ बना हुआ है। संस्कार, भाषा और अनुभव के साथ ही यह प्रक्रिया सम्भव होती है। उस का प्रमाण है कि भक्ति काव्य-परम्परा का बहुत-सा अंश बाद में व्यर्थ हो गया; द्विवेदी युग की काव्य-चेतना अगले युग में निष्फल हो गई और छायावादी सांस्कृतिक चेतना आगे के युग में सन्दर्भहीन हो गई है।"[2] युग-विशेष के सन्दर्भों के बदल जाने पर समूची चेतना ही बदल जाती है। परिवेश के साथ काव्य-व्यवहार ही नहीं मानसिकता में भी स्पष्ट अन्तर उभर

---

1. डा० रघुवंश : समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता, पृ० 1
2. वही, पृ० 2

आता है। इन परिवर्तनों को अनुभव और भाषा में खोजा जा सकता है। अनुभवों के बदलने पर भाषा व्यवहारों में अन्तर आता है।

अब हम समकालीन कविता की पहचान की ओर बढ़ना चाहते हैं। इस सन्दर्भ में पुनः हम समकालीन कविता पर व्यक्त मतों को उद्धृत करना चाहेंगे। डा० रघुवंश के अनुसार "आज समसामयिकता का अर्थ इन (संस्कार, भाषा, अनुभव आदि) समस्त युगीन सन्दर्भों का अतिक्रमण करता है। अपने सामयिक परिवेश के प्रति इतनी गहरी संसक्ति और जागरूकता रचनाकार में पहले कभी नहीं देखी गई।"[1] इस प्रकार डा० रघुवंश ने संस्कार, भाषा, अनुभव आदि का अतिक्रमण और 'सामयिक परिवेश के प्रति गहरी संसक्ति और जागरूकता' को समकालीनता के गुणों के रूप में स्वीकार किया है। श्री जगदीश नारायण श्रीवास्तव ने समकालीनता को 'चिन्तन की अपेक्षा चिंतात्मक काव्य परिणतियों की संज्ञा' तथा 'आनुभूतिक पकड़ और वैचारिक दृष्टि', 'वर्तमानता का निर्धारण', 'उसे रचना की बुनावट में कसना'[2] आदि गुणों का उल्लेख किया है तो डा० नरेन्द्र मोहन के अनुसार 'वास्तविकता से निरन्तर टकराव की स्थिति', 'कथ्य, शिल्प के विभाजन को असंगत मान कर इनका अस्वीकार', 'टकराव भावात्मक कोटि का उतना नहीं जितना वैचारिक कोटि का', इसी टकराव द्वारा 'जीवनगत स्थितियों' के स्पष्ट होने, वास्तविकता की समझ'[3] बढ़ने की बात कही है। डा० विश्वम्भर नाथ

---

1. डा० रघुवंश : समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता, पृ० 2-3
2. "समकालीन कविता उतनी चिन्तन का नहीं, जितनी चिन्तात्मक काव्य-परिणतियों की संज्ञा है। यों, किसी भी तात्कालिक घटना के कारण यकायक कविता का कोई नया प्रस्थान-बिन्दु नहीं बना करता। कवि की आनुभूतिक पकड़ और वैचारिक दृष्टि कुछ पीछे से जीवन-परिस्थिति की जड़ों और संभावित कल को टटोलते हुए अपनी वर्तमानता का निर्धारण कर पाती है तथा उसे रचना की बुनावट में कसती रहती है।" —जगदीश नारायण श्रीवास्तव : समकालीन कविता पर एक बहस ; पृ० 17
3. "समकालीन कविता ने वास्तविकता से निरन्तर टकराव की स्थिति में बने रह कर कथ्य, शिल्प जैसे कविता के बनावटी विभाजनों को→

उपाध्याय के मतानुसार अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का मुकाबला करने, 'केन्द्रीय महत्व रखने वाली समस्याओं की समझ' से[4] समकालीनता उत्पन्न होती है और कि "स्वचेतना, सचेतना या संवेदनशीलता, समकालीनता की अनिवार्य शर्तें हैं।"[5]

'स्वचेतना के अन्तर्गत रचनाकार-व्यक्ति की 'स्व' की परिवेशगत स्थिति और बोध आता है तो 'सचेतना' में देश-काल की सतत प्रवाही स्थिति एवं समकालीन घटनाचक्र के प्रति जागरूकता, तज्जन्य संवेदनशील प्रतिक्रिया समाहित है।

डा० रघुवंश का मत है कि "आज का यह यथार्थ अनुभव प्रत्यक्ष लगने वाली वस्तुओं को अस्वीकार करता है, घटना-क्रम को भ्रामक मानता है, चरित्रों के आचरण को असंगत मानता है। अतः इस अनुभव के साथ साथ परम्परित भाषा छूट चुकी है। वस्तुओं को उन की निजता में ग्रहण करने पर उन के अन्तरावलम्बन सम्बन्धों का स्थान ले लेते हैं; घटना-क्रम के स्थान पर देश-काल के आयाम में घटना का अनुभव अधिक संगत हो जाता है। इसी प्रकार चरित्रों को आचरण की संगतियों से मुक्त कर मूल्यहीनता के स्तर पर गहरण किया गया है।"[6] इस रवैये के स्वीकार

→असंगत सिद्ध कर दिया है। इधर की कविता में वास्तविकता से टकराव भावनात्मक कोटि का उतना नहीं है, जितना वैचारिक कोटि का है। वैचारिक टकराव द्वारा ही जीवनगत स्थितियां स्पष्ट होती हैं और वास्तविकता की समझ और पहचान बढ़ती है।" —डा० नरेन्द्र मोहन 'कविता की वैचारिक भूमिका' (भूमिका से)

4. "समकालीनता, एक काल में साथ-साथ जीना नहीं है। समकालीनता, अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का 'मुकाबला' करना है। समस्याओं और चुनौतियों में भी, केन्द्रीय महत्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।" —डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : समकालीन सिद्धान्त और साहित्य ; पृ० 16

5. वही, पृ० 13

6. डा० रघुवंश : समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता, पृ० 3

के बाद नयी कविता की 'शाश्वत' एवं 'कालातीत होने की आकांक्षाओं के विपरीत समकालीन कविता अपने वर्तमान के मोर्चे पर तैनात और मुस्तैद है। उस की यह मुस्तैदी वैचारिक अस्त्रों से सज्जित है। स्थितियों, चरित्रों के पीछे छिपे वास्तविक आशयों, व्यवहारों को उद्घाटित करती हुई वह समकालीन व्यक्ति की आशाओं-आकांक्षाओं से साझीदारी में, उस के पक्ष में लड़ रही कविता है। यथार्थ से वैचारिक स्तरों पर टकराने और जूझने की अनिवार्यता उस में अधिक मुखर है। इस प्रकार वह पूर्व काव्य प्रवृत्तियों से अपेक्षाकृत अधिक जुझारु एवं जीवन्त है। इसी कारण समय की मारों और कष्टों-क्लेशों की आकृतियां उस में व्यापक और विविधता लिए हुए हैं। वर्तमान का ताप और माप उस में सर्वाधिक उपलब्ध होता है तो जिजीविषा और संघर्ष का संकल्प भी उतना ही दृढ़ है।

नयी कविता की भावनावादिता एवं मूल्य-दृष्टि से पार्थक्य के अतिरिक्त समकालीन कविता प्रतिबद्ध कही जाने वाली दलीयदृष्टिवादी कविता से भी पृथक है। वह सामाजिक अनुभवों से उद्भूत विचारों एवं स्वतन्त्र विचार प्रक्रिया को स्वीकार करती है। यही उस की शक्ति एवं सामर्थ्य की संभावनाओं का स्रोत है। प्रतिबद्ध विचार, कविता की स्वतन्त्र प्रक्रिया को बाधित करता है।

अपने पूर्वाग्रहों को कविता पर लाद कर व्यर्थ आरोपणों, सायास प्रयासों अनुकूलित धारणाओं को कविता के गले में बांध कर कवि उस की हत्या करता है; जब कि समकालीन दृष्टि कविता की मुक्ति और मानव की मुक्ति में समानभाव से विश्वास रखती है। आज जीवन स्थितियां एवं काव्य स्थितियां एकात्म हो चुकी हैं। समकालीन कविता समकालीन व्यक्ति की नियति, सोच-व्यवहार, आशा-निराशा, आह्लाद-रोदन की निकट की साझीदारी स्वीकार कर चुकी है। वह निकटतम हमदर्द ऐसे पड़ोसी की तरह है जो दूसरे की धड़कनों, सांसों, आहों से ही नहीं प्रत्येक हारी-बीमारी, खैर-खुशी से पूर्णतः भिज्ञ एवं सहभोक्ता है।

समकालीन काव्य-धारा की कविताओं का संकेंद्रक 'विचार' है। यही 'विचार' बिन्दु इसे अन्य प्रकार की कविताओं से पृथक् पहचान देता है। यह 'विचार' जहां उसे एक ओर मध्यकालीन बोध से अलग करके आधुनिकता

से जोड़ देता है, वहां नयी कविता, अकविता और प्रतिबद्ध कविता से भी अलग करता है। समकालीन कविता की इस धारा की कविताओं में 'विचार' संपूर्ण संरचना में समाया हुआ है, न कि कविता में अलग से रखा हुआ। मध्ययुगीन कविता में दार्शनिक या सम्प्रदायवादी धारणाएं, जिस प्रकार काव्य-माध्यम का अपने लिए इस्तेमाल करती थीं, यह 'विचार' वैसा न कर के अपनी प्रकृति के अनुरूप नये रूपाकार खड़े करता है और बनी-बनायी धारणा की अपेक्षा विशिष्ट चैतन्य-प्रक्रिया है। यह विचार 'अकविता-अविचार-अमानवीकरण' (विश्वम्भर नाथ उपाध्याय) की मानवघाती दिशा की ओर नहीं प्रत्युत मानवीय चिन्ता में से जन्मा प्रगतिशील विचार है। यह मनुष्य-मनुष्य के मध्य के अन्धकार को, षड़यन्त्री कुहासों को छांटता और उन्हें निकट ला कर वैचारिक धरातल पर जोड़ता है। अतः उक्त कारणों से, हिन्दी साहित्य में व्याप्त काव्यांदोलनों एवं अनेकानेक भ्रामक नामों की भीड़ में से समकालीन कविता को निकालने और उस की प्रमुख प्रवृत्ति के अनुरूप उस की एक पहचान खड़ी करने के लिए उसे 'विचार कविता' की तथ्यपरक काव्यतात्विक संज्ञा प्रदान की गयी है, (देखें 'विचार कविता की भूमिका'), जो कि सर्वथा उपयुक्त लगती है।

•

इस में बनी-बनायी धारणाओं का आरोपण नहीं, बल्कि पूरी कविता में 'विचार' एक अधिकारिक दखल से संरचना की भाषा, बिम्ब, प्रतीक-योजना आदि को प्रभावित करके अपना स्वरूप स्पष्ट करता है। इस कविता में काव्योपकरणों के इन नये संयोजनों की पृथक् पहचान बनी है, जो इधर सात-आठ वर्षों में प्रकाशित बीसियों कविता-संग्रहों, हज़ारों कविताओं के प्रमाण से सिद्ध-पुष्ट होती है। इन कविताओं के आधार पर, विचार की अनिवार्य-विशिष्ट संस्थिति के कारण जो एक स्वरूप उभरा है, उस से समकालीन कविता के मिज़ाज, परिवेश के प्रति जागरूक व्यवहार, तज्जनित क्षोभ, क्रोध, त्रासदी, व्यंग्य एवं विद्रोह के रचाव से नये सौंदर्यबोध का स्वरूप उघड़ आया है। क्योंकि "विचार कविता में एक साथ आन्तरिक सत्य और सामाजिक यथार्थ का मिलन-बिन्दु उसे न तो कल्पना की अतिरंजना बनने देता है और न वस्तुवादिता की बहिर्मुखता का प्रचार बनाता है। वह एक ऐसी नैतिक अवधारणा को जन्म देता है, जिस के विभिन्न स्तरों पर

जीवन की सही पहचान पाना मुश्किल नहीं।''[1]

समकालीन कविता में प्रत्यक्षानुभूति पर अधिक बल दिखायी देता है। यह प्रत्यक्षानुभूति प्रत्यक्षज्ञान पर आधृत होती है। किन्तु काव्यानुभूति को मात्र ऐन्द्रिक और उस के प्रमाण को व्यक्तिगतता के घेरे में रख कर 'अनुभूति की प्रामाणिकता' की जो मिथ नयी कविता में खड़ी कर ली गयी थी, वह समय के अन्तराल के साथ दबाव खा कर दरक गयी। यदि उस का आधार 'विचार होता और उसे 'सामाजिक आशय' से जोड़ा जाता तो वह इतनी कच्ची और बोदी सिद्ध न होती। 'सामाजिक आशय' से जुड़ कर अनुभूति कच्ची नहीं रह जाती, बल्कि परिपुष्ट एवं सच्चे अर्थों में प्रमाण भी अर्जित कर लेती है। तथा वैयक्तिक प्रमाण एवं सीमित दायरे की अपेक्षा समाजैतिहासिक परिपक्वता से जुड़ कर विचार-मुखरता के क्षेत्र में आ जाती है; वैचारिक सरोकारों को प्रतिफलित करती है। इस धरातल पर आ कर उस का पुनर्संस्कार होता है। वह विचार की अनुवर्तिनी बनती है। अपने समय की लड़ाईयों में हिस्सेदारी कायम कर के अपनी अनुगूँजें सुदूर समय तक फैला देती है। ऐसी कविता, तब अपनी प्रासंगिकता और प्रामाणिकता में चिर-स्थायी पहचान पैदा कर इतिहास का स्थायी हिस्सा बन जाती है। समकालीन कविता में यह नया समीकरण देखा जा सकता है। यहां विचार अनुभूति को अपने साथ ले कर, उसे अपने में घुला-मिला कर चलता है।[2]

हम कुछ उद्धरण दे कर अपनी बात को पुष्ट करना चाहेंगे :

''मैं फिर से उसी अंधेरे के बीच
घिर गया हूँ मेरे मित्र !
यह वही अंधेरा है
जो जंगलों से निकल कर
सभ्यता के रास्ते
नगरों को काला कर जाता है।''

(विनय)

---

1. डा० विनय : विचार कविता की भूमिका।
2. देखें – समकालीन कविता : विचार कविता : स० बलदेव वंशी

यहां जिस अंधेरे की बात की जा रही है यह वही अंधेरा है जो कुछ वर्षों पहले आपात्काल के दिनों में देखने में आया था। इस अंधेरे का चरित्र राजनीतिक है। इस के स्वरूप में समकालीन वे सारे तत्व हैं, जिन के रहते आज जीवन नरक में बदल चुका है। इस अंधेरे में अन्याय, अत्याचार और हिंसा की सारी छवियां मौजूद हैं जो बेकारी, महामारी, गोलीबारी के रूप में बरसती हैं। यह अंधेरा जंगलों से, सभ्यता के बावजूद समाज की सामूहिक बर्बर प्रवृत्तियों-व्यवहारों से जन्म ले कर नगरों-सभ्यता-केन्द्रों को काला कर जाता है।

"हम सिर्फ अभिनेता हैं
हमारा अपना कुछ नहीं है—
न स्वत्व, न व्यक्तित्व
अस्तित्व तक नहीं"

(हरदयाल)

उक्त पंक्तियां आज के व्यक्ति की स्वत्वहीनता के प्रायश्चित्त और वेदना को व्यक्त कर रही हैं, न कि उन का जश्न मना रही हैं। राजनीतिक अंधेरे के ही कारण आज व्यक्ति अपनी अस्मिता बनाए रखने के लिए छटपटा रहा है। वह जिन शक्तियों के द्वारा इस हालत को प्राप्त हुआ है, वे कदापि मानव हितैषी नहीं हैं।

उक्त अंधेरे में अभी आपात्कालीन अंधेरा– उस का भय भी मिला हुआ है जिस की पहचान रमेश मेहता की कविता-पंक्तियों में उभरी है –

"अंधी गली में दौड़ने की
यातना मे अपरिचित
काले सूरज का
लंगड़े घोड़ों वाला रथ
निरंतर घिसटता रहा था ... "

(रमेश मेहता)

अंधी गली-राजनीति की वह कारा थी, जिस में सारे देश को झोंक दिया गया था, मजा यह है कि वह सूरज-काला था, जिस में जीवन का भ्रम था, जो वास्तव में जीवन का निषेध लिए हुए था, स्थिति की विडम्बना

'लंगड़े घोड़ों' के प्रतीकार्थ से व्यक्त की गयी है और इस विडम्बना का अतिरेक 'रथ के घिसटने' में व्यक्त है।

इतना ही नहीं आपातकाल के बाद भी कवि का अनुभव कुछ सुखद नहीं है। जनाकांक्षाएं अधूरी रह गयी हैं। अपेक्षाएं अधर में लटकी हुई हैं :—

"डबडबाई आंखों से
जीने की भीख मांगने वाले लोगों को
आश्वासनों की जमीन पर बैठा कर
गोली से क्यूं भून दिया जाता है ?"

(सुखबीर सिंह)

राजनीतिक सत्ता जिन आश्वासनों के बल पर सत्ता-शक्ति प्राप्त करती है, फिर उसी बल से जनता को आश्वासन रहित भी करती है। और डबडबाई आंखों वाले, जीने की भीख मांगने वाले निरीह नागरिक पुन: निराशा, वियोग, भूख, निस्सहायता के अंधेरे में ढकेल दिये जाते हैं। इस सन्दर्भ से जुड़े हुए सामाजिक सन्दर्भ भी बड़े दर्दनाक हैं :—

"एक मायावी तंत्र में जकड़ा
कातर चुप्पी में गुम
भभक उठता हूँ कभी-कभी
तो याद आती है मां"

(नरेन्द्र मोहन)

राजनीतिक सन्दर्भों से सामयिक आशय दोहने में समकालीन कविता अपने वैचारिक मिज़ाज के कारण ही सक्षम हुई है। राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य समझ-तर्क से परे हो जाने के कारण और अपने व्यवहार को ले कर भी मायावी स्वरूप ले चुका है जिस की गिरफ्त में आया आज का व्यक्ति एक कातर चुप्पी में बन्द है। हां, यह ज़रूर होता है कि वह कभी-कभी भभक उठता है। उस का भभकना भी आकस्मिक और कभी-कभार की घटना होती है। ऐसे में मां का याद आना एक घनी निराशा में आस्था-स्नेह और मानवीय विश्वास की स्मृति जीवन की डोर को बांधे रखती है। इन्हीं अर्थों में आज समकालीन कविता अपने सामयिक बोध को ले कर—व्यापक सामाजिक अनुभवों से उद्भूत विचारों के बल पर लड़ने और जीने की शक्ति के स्रोतों की ओर बढ़ रही है।

●

आकाश : दो कविताएं

—दिविक रमेश

एक

यह तो अच्छा हुआ
कि जाने - अनजाने
ज़मीन से कभी
नाता नहीं तोड़ा
बहुत फुसलाया मुझे आकाश ने।
मानता हूं
दिन के उजाले में
नंगा भी बहुत किया मुझे

यहां तक कि
जमीन जैसा होने का
नाटक रच
मेरे उन ज़ख्मों का भी
रहस्य जानता रहा
जो आदिम हैं।

और मुझे अचरज है
कि मैं
खोखले आकाश

ग्रौर ठोस ज़मीन के बीच
कुछ देर को ही सही
कई रिश्ते / तलाशता रहा ।
लेकिन ग्राकाश
रात में
जब खुद नंगा हुग्रा
तो उस के पास
ग्रपना ग्राकाश था ही नहीं ।

उसे तो
ग्रसंख्य तारों ने
इतना-इतना छेदा है
कि वह
ग्राकाश न रह कर
ग्रांख-कोटरों की तरह
भिड़ के छत्ते-सा
खौफ़नाक हो गया है ।

●

दो

उड़ो ! उड़ो !
ग्राकाश में उड़ने की भी एक उम्र होती है ।
ग्रभी तो तुम
तमाम भोलेपन को
ग्रपनी पीठ पर लाद कर
ग्राकाश की ऊंचाइयों से गिरा
उसकी छटपटाहट का
मज़ा ले सकते हो ।
लेकिन दोस्त !

इसी आकाश से पूछो
जो कभी बूढ़ा नहीं होता
कि सब वही
वही रहता है
बस एक
उम्र गुज़र जाती है
और तब
इस उम्र वाले पंख
कितने-कितने
बोझिल हो जाते हैं।
कि तब
और कोई नहीं,
सिर्फ आप छटपटाते हैं।

●

कहानी

बनजारे

—ज्योतीश्वर पथिक

दफ़्तर में चलते हुए टाईपराइटर अचानक रुक से गए। सभी की निगाहें आने वाले ट्रेड-यूनियन लीडर की ओर उठ गईं। धीरे-धीरे सभी अपना स्थान छोड़ कर कामरेड वाडेकर को घेर कर खड़े हो गए और देखते ही देखते वह सारे आफिस के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बन गया— उस ने जेब से बीड़ी निकाल कर सुलगाई और तीली को हवा में लहराते हुए कहने लगा— "साथियो महंगाई ने हम सब की कमर तोड़ दी है। हम सभी का स्टैंडर्ड सिग्रेट से बीड़ी तक आ गया है और साहब लोग इम्पोर्टेड सिग्रेट पीते हैं।"— सभी लोग वाडेकर की ओर टकटकी बांध कर देख रहे थे और वह कहता जा रहा था— "ये बुर्जुआ अधिकारी हमारा शोषण करते हैं। हम सुबह से शाम तक काम करते रहें मगर एक पैसे का ओवर-टाईम हमें नही मिलता, महंगाई-भत्ता मांगें तो हमारी-विक्टमाइज़ेशन होती है— सस्पैंड किया जाता है, ट्रांसफर किया जाता है, इन्क्रीमैंट रोकी जाती है और न जाने क्या-क्या हथियार हमारे खिलाफ इस्तेमाल किये जाते हैं। हम ऐसी व्यवस्था कब तक सहन करते रहेंगे? एक सवाल है जिस का जवाब हम सभी को ढूंढना है।" इस पर दफ़्तर के सारे कर्मचारी बोल उठे— "नहीं और अधिक देर तक नहीं!" और इन्कलाब जिन्दाबाद के नारों से सारा वातावरण गूंज उठा।

"साथियो !" वाडेकर ने तीखी-सी मुस्कान के साथ गरज कर कहा, "हमें इन्कलाब लाना है, इस गली-सड़ी व्यवस्था को बदलना है तभी। जा कर हम बाएं बाज़ू की ताकतों को मज़बूत बना सकते हैं। हमारी लड़ाई इन बुर्जुग्रा ग्रधिकारियों के खिलाफ है जो इन्कलाब की ग्रावाज़ को दबा कर ग्रपनी गद्दियां बनाए रखना चाहते हैं, हम लोगों का शोषण करते हैं ग्रौर हमारे ग्रधिकार हमें नहीं देते। हम जल्दी ही ग्राप को ग्रपने ग्रगले कार्यक्रम से ग्रवगत करेंगे। मैं ग्राप से ग्रनुरोध करता हूँ कि भारी संख्या में शामिल हो कर हमारे इन कार्यक्रमों को सफल बनाएं।"

मनु डेढ़ घण्टे से एकाऊंट्स क्लर्क की प्रतीक्षा कर रहा था जो उस के कागज़ों की पड़ताल कर के उस का केस निपटा सकता था। पिछली शाम को देर तक वह उस की प्रतीक्षा करता रहा था। धीरे-धीरे उस के साथ जा कर मनु ने राज़ की बात की फिर मनु की जेब से नोट खिसक कर उस एकाऊंट्स क्लर्क की जेब में चले गए। उसने रहस्य भरी मुस्कान के साथ मनु की ग्रोर देखा ग्रौर कहा— "कल ग्राना तुम्हारा काम कर दूंगा।"

मनु पिछले पन्द्रह दिनों से इस दफ़्तर के चक्कर काट रहा था उसकी पत्नी रमा दूर एक गांव के स्कूल में पढ़ाती थी। उस ने नियुक्ति के लिये गांव के एक हरफनमौला से सांठ-गांठ की थी ग्रौर ग्रपनी जेब से कुछ नोट खिसका कर मनु ने उस की जेब में डाल दिये थे ग्रौर एक सप्ताह बाद रमा की नियुक्ति का ग्रार्डर उसे थमा दिया गया था। मगर ग्रब की बार वही काम का ग्रादमी उसे धत्ता बता गया था। मनु के जाने पर उस ने साफ-साफ कह दिया था— मनु भाई, जो सेवा मैं कर सकता था कर दी। ग्रब मेरे पास समय नहीं। तुम खुद शहर जा कर ग्रपना काम करा लाग्रो।

जब दसवीं पास रमा मनु की दुल्हन बन कर गांव ग्राई थी तो मनु के पिता चौधरी शाम सिंह फूले न समाये थे। उन के खानदान में पहली बार पढ़ी-लिखी बहू ग्राई थी। यह महंगाई का समय था, तो भी चौधरी शाम सिंह ने गांव के सभी लोगों को भोज के लिए ग्रामन्त्रित किया था। ग्रगर पहला समय होता, जब उन के खेत खेतिहरों ने दबाए नहीं थे, तो वे शहर से नाचने ग्रौर गाने वालियों को हफ़्ते भर बुलाए रखते। ग्रब तो

केवल खोखली ठाट-बाट थी। ज़मीन का बहुत सा भाग खेतीहरों ने दबा कर रखा था। बे-दखली के लिये उन्होंने अदालत में केस दायर कर रखा था। दिवानी मुकदमा था न जाने कब फैसला हो, अभी तो वकीलों को हर पेशी पर पैसे देने थे। अभी तक वे पांच हज़ार रुपया खर्च कर चुके थे और वकीलों का कहना था कि केस हाईकोर्ट तक लड़ते-लड़ते बीस एक हज़ार रुपया खर्च आएगा। मगर चौधरी शाम सिंह भी अपनी आन के पक्के आदमी थे, वे नहीं चाहते थे कि फोकट में ज़मीन खेतिहरों के पास चली जाए— पिछले तीन वर्षों से सूखा भी खूब पड़ा था। चिल-चिलाती धूप के कारण ज़मीन में गहरी दरारें पड़ चुकी थीं। दरिया यहां से बीस मील दूर था, नहर निकालने की योजना की घोषणा रेडियो और अखबारों में हो चुकी थी मगर अभी काम शुरू नहीं हुआ था। गांव के दूसरे लोग तो अन्य काम अपना चुके थे। चार मील दूर बन रही सड़क पर काम करने के लिये उन्हें पांच रुपये दिन के मिलते थे। एक रुपया उन का मेट ले जाता था वरना अगले पखवाड़े उन्हें काम नहीं मिल सकता था। मगर चौधरी शाम सिंह अपने परिवार के किसी भी सदस्य को यह काम करने की आज्ञा नहीं दे सकते थे। यह उन के खानदान का अपमान था, उन का अपना अपमान था। हालांकि मनु ने कई बार पिता से अनुग्रह किया था कि वह भी सड़क पर काम कर के कुछ कमा लाएगा। मगर चौधरी शाम सिंह न माने। आखिर काफी अनुनय-विनय करने पर रमा को स्कूल में नौकरी करने की अनुमति दी थी उन्होंने। मनु ने भी बचे खुचे पैसों से गांव में पोल्ट्री फार्म खोल रखा था और उस के फार्म के अण्डे अब दूर-दूर तक बिकने लगे थे।

रमा जब पहले दिन स्कूल गई तो सब औरतों की प्रश्न सूचक नज़रों का सामना उसे करना पड़ा था। खुद मनु की मां ने भी बहू को नौकरी कराने का कड़ा विरोध किया था मगर शाम सिंह का मिज़ाज देख कर वह चुप हो रही थी। अब शाम सिंह खुश थे। उन की यह बहू आड़े समय में काम आई थी वरना गांव की खूसट औरतें तो खोटे सिक्कों की तरह होती हैं जो न सिर्फ अच्छा खाने-पहनने को मांगती हैं बल्कि जेवरों की धौंस भी जमाती हैं।

सुबह इस दफ़्तर में मनु के पहुँचने से पूर्व ही कामरेड वाडेकर का भाषण शुरु हो चुका था। काम कितना भी जरूरी क्यों न हो मगर वाडेकर जैसे नेताओं का भाषण सुनना जरूरी था अन्यथा अपने साथियों के साथ गद्दारी होती, इसलिए सारे का सारा दफ़्तर वाडेकर का भाषण सुनने खड़ा हो गया था। साहब बार-बार अपने कमरे से झांक कर यह देख चुके थे। उनके खास-उल-खास भी भाषण सुनने में तल्लीन थे। वे रह-रह कर दांत पीस रहे थे क्योंकि ये खास-उल-खास उन्हें बता चुके थे कि वाडेकर की यूनियन के साथ दफ़्तर का एक भी आदमी नहीं—"हरामखोर कहीं के! क्या इसीलिए उन्होंने उन के मेडिकल बिल पास किये थे वरना एक पाई न मिल पाती इन सालों को—" मगर अब साहब दांत पीस कर रह गए थे। कामरेड वाडेकर के जाने तक एक बज चुका था और ज्यों ही मनु अपने एकाऊंट्स क्लर्क के सामने हुआ वह कह उठा—"अभी तो लन्च का समय है तुम थोड़ा ठहर कर आना।"

मनु दफ़्तर से बीस गज़ दूर ढाबे में गया, दो चपाती खाने के लिये, ताकि वह दोबारा आ कर कागज़ात निकलवा सके। बाज़ार की चपाती और घर की चपाती में ज़मीन आसमान का फर्क है। बीस चपाती खाने से भी पेट नहीं भरेगा। गांव से चलते समय मां ने जो रोटी दी थी वह रास्ते में काम आई थी। शहर में रोटी से पेट नहीं भर पाता, न जाने लोग कैसे जीते हैं।

मनु ज्यों ही दफ़्तर में वापस आया तो उस ने देखा कि फिर सभी कुर्सियां और मेज़ खाली पड़े हैं। सभी बाबू लोग अन्दर के सहन में बैठे हुए हैं और गठीले बदन वाले एक महाशय ज़ोर-ज़ोर से भाषण दे रहे हैं—"तुम लोग क्यों विनाश की ओर बढ़ रहे हो। ये वामपंथी कामरेड सारी व्यवस्था का सत्यानाश कर देंगे। ये लोग अव्यवस्था में विश्वास रखते हैं, अपने विदेशी आकाओं के इशारों पर नाचते हैं। इस समय इन लोगों ने हमारी अर्थ-व्यवस्था का सत्यानाश कर दिया है, देश को इन से भारी खतरा है इसलिये हर देश-भक्त का यह फर्ज़ है कि इन कामरेडों की साजिश का डट कर जवाब दें।"

खुले पांयचों का पाजामा और खिलका पहने हुए मज़दूर संघ के नेता के माथे पर एक नया तेज था। वह कहता जा रहा था—यह सरकार इन कामरेडों से डरती है, ये लोग घिराव करते हैं, हड़तालें कराते है। प्रदर्शन

कराते हैं और आम लोगों को परेशान करते हैं।

साहब अब तक कई बार खिड़की से झांक कर देख चुका था। उस के खास-उल-खासों ने आधे घण्टे में ही यह कारनामा कर दिखाया था। वह अपनी सफलता पर मुस्करा रहा था।

"साथियो ! मुझे उम्मीद है कि आप इन लोगों के झांसे में नहीं आएंगे। ये लोग मजदूरों की बातें करते हैं लेकिन मज़दूरों के दुश्मन हैं। इन का मकसद तो सामाजिक ढांचे को खोखला करना है, मजदूरों से इन्हें कुछ नहीं लेना है।" सभी लोगों ने तालियां बजा कर इस वक्ता का अभिवादन किया।

दूसरी ओर बाएं बाजू के कार्यकर्ता कह रहे थे—"साला इम्पीरियलिस्टो का एजेंण्ट है—लोगों को एक्सप्लायेट कर रहा है।"

मनु टुकर-टुकर इधर-उधर देखता रहा था आज का दिन भी उस ने यों ही गंवा दिया था। मगर वह कर भी क्या सकता था। भाषण समाप्त होने के बाद काफी देर तक बाबू लोग उस नेता को घेरे रहे और वह उन के सवालों के जवाब देता रहा। सहसा नेता ने रहस्य भरी नजरों से साहब के साथ आंखें मिलाई और अपनी सफलता पर मुस्कराता हुआ बाहर निकल गया।

घड़ी की सूइयां तेज़ी से पांच की ओर बढ़ रही थीं—

"तुम्हारे पास माचिस होगी ?" चपरासी ने तन्द्रा तोड़ते हुए मनु से पूछा। मनु ने माचिस निकाल कर उसे दे दी और एक बीड़ी स्वयं भी सुलगा ली। "मालूम होता है नये हो अभी", चपरासी के प्रश्न के उत्तर में मनु ने गर्दन हिला दी।

फिर चपरासी ने मनु के कान में कुछ कहा और वह आंगन में खड़े उस खास आदमी की ओर चल दिया। उस के पहुँचने तक चपरासी ने आंखों ही आंखों में मनु की समस्या बयान कर दी थी।

उस आदमी के साथ मनु ने समझौता कर लिया था इसीलिए वह मनु को साथ ले कर साहब के पास चल दिया था। साहब के कमरे में घुसते ही वह दहाड़ उठा था "साहब आप के आफिस में अजीब अन्धेरगरदी है। गरीब आदमी की कोई पूछ नहीं। यह बेचारा सुबह से खड़ा है, दूर गांव से आया है। आप इस का इन्साफ नहीं करेंगे तो कौन करेगा ? बाबू लोग

तो रिश्वत लिये बिना काम नहीं करते। मैं पूछता हूं कि आखिर क्या होगा इस देश का..."

साहब की रहस्यपूर्ण मुस्कान पर उसका भाषण रुका और साहब ने मनु को बैठने का संकेत किया. फिर क्या था, साहब ने बाबू लोगों को बुला कर डांटा, सस्पैंशन की धमकी दी, ट्रांस्फर का रौब जमाया।

पन्द्रह मिनट के अन्दर आर्डर मनु के हाथों में था।

●

रचना प्रक्रिया के विविध आयाम

—डॉ० रतन लाल शान्त

कविता जिस रूप में उपलब्ध होती है— उस रूप में यदि वह कवि के रचयिता-व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है, तो तैयारी की दशा में वह और भी सच्चा प्रतीक होती है, निर्माता-व्यक्तित्व का। इस विषय को व्याख्यायित करने से पूर्व सृजन-प्रक्रिया की ही व्याख्या आवश्यक हो जाती है, इस प्रक्रिया को विलियम बटलर येट्स की निम्नांकित कविता से समझा जा सकता है[1] :

लंबी टांगों वाली मक्खी

सभ्यता कहीं डूब न जाए
इस के अर्थ यह महान युद्ध हार न जायें
चुप कर दो कुत्ते को, गधे को कहीं दूर
खंभे से बांध दो,
हमारा प्रभु सीज़र उस तंबू में है,
जहां नक्शे पसरे हैं,
उसकी नज़रें शून्य में गड़ी हैं,
उस के सर के नीचे हाथ की टेक है।
सरक रहा है उसका मन मौन पर
मक्खी एक, नदी पर जैसे, लंबी टांगों वाली

1 येट्स के काव्य-संग्रह : Last poem and Plays से उद्धृत।

वयस्कता प्राप्ति पर लड़कियां
सोच सोच में आदिम 'आदम' को पा लें,
पोप के गिर्जा घर का बन्द कर दो द्वार
बाहर रहने दो बच्चों को,
कनवास पर पहरा है—
माइकेल एंजिलो,
आगे-पीछे हिल रहे हैं उसके हाथ,
चूहों से ज्याद नहीं आ रही है आवाज
सरक रहा है मन उसका खामोशी पर
मक्खी जैसे, सरिता पर दो लंबी टांगों वाली !

येट्स की इस कविता में बताया गया है कि कलाकार माइकेल एंजलो और योद्धा शासक सीज़र दोनों की स्थिति एक सी है । दोनों के मन सचेष्ट हैं और मौन पर घूम रहे हैं। नीचे जैसे एक नदी बह रही हो सतत धारा-प्रवाह और उस पर एक लंबी टांगों वाली मक्खी हौले-हौले चक्कर लगाने का प्रयत्न कर रही हो। हमारा चेतन मन नदी की धारा है और जो प्रक्रिया रचना करती है वह इसकी ऊपरी तह पर यों होती है कि जिससे पानी का भीतरी धारा-संघर्ष अक्षुण्ण बना रहता है।

इसी संदर्भ में 'अज्ञेय' की भी एक कविता को उद्धृत किया जा सकता है, जिस से रचना-प्रक्रिया की स्थिति स्पष्ट हो सकेगी। शायद लंबी-चौड़ी आलोचना और व्याख्या से बेहतर एक भाव-केन्द्रित कविता ही होगी :

नदी का पुल

इसलिए
कि मैं कोई नहीं हूं
मैं उपकरण हूं
जिनके काम आया हूं
उन्हीं का बनाया हूं
नदी से ही उनका
सीधा नाता है
वही उनकी सच्चाई है
जो मेरे लिए खाई है।

('सागर-मुद्रा')

नदी और पुल के इस सम्बन्ध का सीधा समीकरण चेतन मन और सृजन प्रक्रिया के साथ बैठता है। सृजन प्रक्रिया लेखक का वह पुल है जो उसे रचना की उपलब्धि से जोड़ता है। यह प्रक्रिया ऊपर-ऊपर ही होती है, उस मक्खी की तरह, जो पानी की तह पर चलती है। चेतन मन के साथ लेखक का ज़्यादा घना नाता होता है, क्योंकि संपूर्ण रचना का कोष वही है, मूल स्रोत वही है, पर रचना के क्षण कभी उसके समान्तर और कभी विरुद्ध पड़ते हैं। कोई भी लेखक वास्तव में रचना के क्षणों में कुछ ही देर जीता है, पर मूल प्रेरणा के और वास्तविक रचना के क्षणों के पीछे वह सतत रचनाशील मन है— रचनाशील— रचना जिसका स्वभाव है। कलाकार का चेतन मन अपने उन क्षणों में भी अधिक रचनाशील होता है जिन में वह वास्तविक सृजन प्रक्रिया में से नहीं गुज़र रहा होता है। कवियों के निजी नोट्स और छिटपुट कवितांश, इस संदर्भ में उद्धृत किए जा सकते हैं। रचना प्रक्रिया को साधारणतया गर्भ में बढ़ते शिशु के साथ तुलित किया जाता है। कविता का मस्तिष्क में बनना और फिर कागज़ पर उतना या अधरों पर अभिव्यक्ति के लिए थिरकना, यही तो कविता की रचना प्रक्रिया है — स्वयं में पूर्ण। यह सिद्धान्त ग़लत है कि कविता— कोई भी कविता, वह रूढ़ हो, परम्पराबद्ध हो या नवीन भाववोध से प्रेरित — यों ही किसी मन की चालू उड़ान या मन के कुलाबे मिलाने से बनती है। इस से यह भी कहा जा सकता है कि सृजन प्रक्रिया एक तरह से स्वयं में पूर्ण क्रिया है।

सृष्टा मन, सृजित जीवन

आज दुनियां जितनी शीघ्रता से बदल रही है उसमें मनुष्य की मौलिकता समाप्त हुई जा रही है। एकरस मशीनी ज़िंदगी में मनुष्य खटता है, और उसका स्रष्टा व्यक्तित्व लुप्त हुआ जाता है। सृजन-प्रक्रिया को समझना तथा इसे सुरक्षित रखने को प्रयत्नशील रहना मनुष्य के ध्वंसमान व्यक्तित्व का रक्षक बन सकता है। मनुष्य का व्यक्तित्व ध्वंस इस लिए हुआ जा रहा है, क्योंकि वह अपने ही द्वारा परिचालित गति से कदम नहीं मिला पा रहा और न ही इसे अपनी शक्ति और सीमा के अनुसार रोक या बढ़ा पा रहा है। आम जनता के बीच सर्जक व्यक्ति इस गति की एकरसता को भंग करने या इसे कोई आकर्षक-मोड़ देने का उपक्रम करता है। ब्रिवस्टर

गिसलिन ने एक सम्पादित ग्रंथ की भूमिका में रचना प्रक्रिया को निजी-व्यक्तिगत, विषयगत जीवन के संगठन में विकास तथा परिवर्तन की प्रक्रिया[1] कहा है। रचयिता मन, साधारण जन के मन से इस दृष्टि से भिन्न होता है कि वह अपनी रचना को कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा सार्थक बना देता है। सार्थकता की सिद्धि के लिए उसे अपने व्यक्तित्व को सतत विकास और परिवर्तन के अधीन रखना पड़ता है। इस कार्य में कठिनाइयां बहुत हैं, फिर भी कोई तुलसी ग्रन्थ पर ग्रन्थ की रचना करता है, गैलीलियो नये-नये सत्य का साक्षी बनता है। सृजन-प्रक्रिया को समझना इसलिए और अधिक आवश्यक होता है कि जिससे जीवन, कठिनाइयों के बावजूद फलता रहे। सर्जक का आत्मिक विकास इस फलने की जमानत होता है।

अकेलेपन में भीड़

सर्जक को तमाम सृष्टि की जमानत या प्रतिनिधि तो नहीं माना जा सकता, लेकिन उसे सृष्टि की धड़कन मानने में किसी को आपत्ति नहीं। यह धड़कन चलती रहे, जीवन गढ़ा जाता रहे, यह एक सार्वभौम आकांक्षा है। इस का एक कारण यह भी है कि कवि अपने सम्पूर्ण परिवेश का स्नायु-केन्द्र (नर्व सेण्टर) होता है। वह समाज और वातावरण को प्रतिबिम्बित करने वाला दर्पण होता है। यह 'दर्पणत्व' और 'स्नायु-केन्द्रत्व' उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के कारण होता है। लेकिन इन दोनों विशेषताओं का मूल आधार उसकी रचनाशीलता है। रचनाशीलता ही उसे अभिव्यक्ति के लिए सक्षम बनाती है और उसकी पर्यवेक्षण तथा भावग्रहण की शक्ति को सक्रिय रखती है। ऊपर सभ्यता की दौड़ और समाज के संकुल दबावों का उल्लेख किया गया है। इस दौड़ तथा इन दबावों को कवि भी उसी तरह अनुभवता है, जैसे समाज के और सदस्य, लेकिन और उससे केवल विचलित होते हैं या कुछ देर मुखरित भी, जब कि कवि इन दबावों को अपने में बनाये रखता है, ताकि उन्हें वाणी दे सके। दबावों को बनाए रखना उसकी मानसिकता का अंग होता है और यही उसकी रचना-प्रक्रिया का साधन बनता है। निर्मल वर्मा ने कवि की इस स्थिति को बहुत अच्छी तरह वर्णित किया है। उनका मन्तव्य है कि कवि भीड़ में अकेलेपन का अनुभव

---

1 The Creative Process. Ed: Brewster Ghiselin :[Awentor Book, Page 12.

नहीं करता, अपितु अकेलेपन में भीड़ का। सृजन-प्रक्रिया की दृष्टि से इस मत में काफ़ी सार है। कवि अकेला होता है, विशेष कर सृजन के क्षणों में उस समय वह समस्त भावों, अनुभवों शब्दों, बिम्बों की आकुल भीड़ के दबाव को झेलता है, जब तक कि उन्हें अभिव्यक्ति की राह मिल जाय। इतना ही नहीं। कवि को घेरने वाली उस सामाजिक भीड़ की ओर भी संकेत करते हैं, जिसके बीच कवि एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से रहता है इस शती के सतवें दशक में और उससे पूर्व भी जब नयी कविता यौवन पर थी और काव्यसिद्धान्त सर्वमान्य हो गए थे, सामाजिक अतिचार से दबने वाले व्यक्ति — कवि के प्रति काफी सहानुभूति जागृत हुई। 'अज्ञेय' की 'नदी के द्वीप' कविता तथा इसी नाम के उपन्यास ने व्यक्ति, स्वच्छन्द रचयिता व्यक्ति तथा स्वेच्छाचारी समाज के बीच के द्वन्द्व की ओर आलोचकों का ध्यान खींचा था। लेखक को एक इकाई तथा स्रष्टा व्यक्ति माना गया, जो दिन-दिन बढ़ते, सामूहीकृत होते, समाज के बीच अपने को अकेला महसूस कर रहा है। भीड़ के बीच अकेलेपन का गीत प्रतिनिधि गीत बन गया। निर्मल वर्मा इस बात को सर्वथा अस्वीकार नहीं करते, पर लेखक की वह स्थिति उनकी कल्पना में अधिक उच्च और अनुकरणीय है जब वह भीड़ का दबाव महसूस करता है : 'भीड़ में अकेलापन बहुत लोग महसूस करते हैं— उस में कोई अनोखी बात नहीं, लेकिन अपने अकेलेपन में भीड़ के दबाव को महसूस करना— उससे समझौता न करने पर भी अपने दर्वाज़े पर उसके नाखूनों की खरोंच सुन पाना— इससे मुक्ति उस कलाकार को मिल सकती है, जो स्वयं घबरा कर अपने को कलाकार की नियति से मुक्त कर ले। (कल्पना—५०) और यदि ध्यान से देखें तो कलाकार की नियति उसकी अपनी रचना है। रचनाकारिता रचनाकार की पहली और अन्तिम उपलब्धि होती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल युंग ने कहा था कि "रचनाधीन कृति, कृतिकार की नियति बन जाती है और उसके मनोवैज्ञानिक विकास का आधार भी। गेटे 'फास्ट' की रचना नहीं करता अपितु 'फास्ट' गेटे की रचना करता है।" इस प्रकार कलाकार अपनी नियति से तभी मुक्त हो सकता है जब उसका अन्तर्मन चुप हो जाय। उसके भीतर का स्रष्टा जब मौन हो जाय, तो उसकी कला स्वयं ही मौन होगी भीतर का कलाकार उसकी सृजनात्मकता है, जो सदा सचेष्ट रहती है।

सृजन-प्रक्रिया के समय पूर्ण व्यक्तित्व की स्थिति

सृजन-प्रक्रिया मूलतः एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है इसलिए मनोवैज्ञानिकों का मत इस प्रसंग में ग्यातव्य है। युंग रचना और कृतिकार को अभिन्न मानते हैं लेकिन उनका मत अपने पूर्ववर्ती फ्राइड से भिन्न है। फ्राइड कविता तथा दूसरी कलात्मक तथा अकलात्मक अभिव्यक्तियों के लिए व्यक्ति की निजी तथा मानसिक ग्रंथियों को आधार मानते थे, जिन को सुलझाने के लिए रचना काम करती है। लेकिन युंग का इष्ट है कि रचना निजी जीवन से ऊपर उठे— एकान्तिक निजी जीवन कला में एक पाप हो जाता है। फ्राइड कलाकार को आत्मरति में लीन व्यक्ति मानते हैं पर युंग इस वक्तव्य को तभी स्वीकारते हैं, जब कलाकार के निजी जीवन का वर्णन किया जा रहा हो, न कि साहित्यिक जीवन का। युंग की दृष्टि में कला अचेतन मन की प्राकृतिक उपज है, जिसका संवाहक कलाकार को बनना होता है। ऐसा करने के लिए उसे अपने साधारण जीवन की खुशिया भी बलिदान करनी पड़ती हैं।

युंग के कथनानुसार सृजन-प्रक्रिया अचेतन के द्वारा नियमित होती है, क्योंकि हर कृति की मूल प्रेरणा अचेतन में निहित होती है। फ्राइड व्यक्तिगत अचेतन और युंग सामूहिक अचेतन की बात करते हैं। सामूहिक अचेतन रचयिता के संवेदनशील मानस द्वार प्रकट होता है और रचना प्रक्रिया को नियमित करता है। युंग का कथन है कि सामूहिक अचेतन किसी जाति की आदिम मनोवृत्तियों को— आदिम से लेकर अधुनातन मनोवृत्तियों को— सुरक्षित रखता है और रचनाकार के माध्यम द्वारा प्रकट होता है। वे मानते हैं कि 'फास्ट' या 'ज़रथुस्त्र ने यों कहा' जैसी रचनाएं जर्मन मानस की ही उपज हो सकती थीं। जिस प्रकार भगवान कृष्ण 'अभ्युत्थान-मधर्मस्य' अपने आप को ही सृजित करते हैं; क्योंकि 'धर्मस्यग्लानिर्भवति' उसी प्रकार युंग साहित्यमात्र की रचना का कारण युग की आवश्यकता में ढूंढते हैं :

The archetypal image of the wise man, the saviour or redeemer, is buried and dormant in man's unconscious since the dawn of culture; it is awakened whenever tbe tunes are out of joint

and a humen society is committed to a serious error.[1]

फ्राइड से युंग का अन्तर इतना है कि फ्राइड इस अभिव्यक्ति को व्यक्तिगत मानव मन में दमित वासनाओं की प्रतिक्रिया बताते हैं, जब कि युंग का कथन अधिक विस्तृत तथा स्वीकार्य है। आधुनिक भारतीय काव्य-चिन्तन ने इन दो कथनों में से कभी एक तथा कभी दूसरे को सही बताया। यहां आलोचकों के अलग-अलग सम्प्रदाय समय-समय पर कभी एक और कभी दूसरे मतवाद का अनुसरण करते रहे। समन्वय का स्वर भी सुना जाता रहा है। जैसे 'कला के विषय में युंग के विचार अत्यन्त व्यापक हैं, पर दमनक्रिया को महत्त्व न देना विवाद को उठाना है। हम कला को न तो पूर्ण वैयक्तिक मानते हैं और न निर्वैयक्तिक ही। कला की अभिव्यक्ति में दोनों का समावेश होता है।' (माध्यम —अक्तूबर ६५) लेकिन सामान्यतया युंग का ही सार्वभौम चिन्तन भारत में भी स्वीकार्य रहा।

बीज, अचेतन में

युंग के मत से सृजन-प्रक्रिया की तीन विशेषताएं हो जाती हैं।

१. यह अचेतन मन से प्रेरित होती है।

२. व्यक्ति कवि सृजन के क्षणों में तटस्थ होता है।

३. सृजन-प्रक्रिया व्यक्तित्व का दर्पण है; न कि व्यक्तित्व सृजन-प्रक्रिया का।

आधुनिक काव्य चिन्तन ने इन्हीं को पुष्ट किया है।

अचेतन मन कवि को कैसे आदेश देता है और उससे कविता लिखवाता है? यह व्यावहारिक समीक्षा का प्रश्न है। मनोवैज्ञानिक, लेखक की स्मृति प्रेरणा आदि को अचेतनमन की ही लहर बताते हैं; जो उठती है या खींच-खांच कर रचयिता द्वारा उठाई जाती है। टी० एस० इलियट ने कहा है कि हम मौलिक हो ही नहीं सकते। सम्पूर्ण और निरपेक्ष मौलिकता नाम की चीज़ होती ही नहीं। हम पुरातनों से अधिक ज्ञान रखते हैं, क्योंकि हम वह सब जानते हैं जो पुरातन जानते थे। स्टीफेन स्पेण्डर का मत है कि हम सब कुछ स्मृति से लिखते हैं। स्मृति के बाहर हम लिख ही नहीं सकते। लेकिन 'महान कवि वे हैं जिनकी स्मृति अपने दृढ़तम अनुभवों से

1. Psychology and literatur efrom -
Modern man in search of a soul : Tr. W. S. Dell.
Routledge and kegen paul Ltd. London.

बाहर निकल कर अपने आत्मकेन्द्रत्व से बाहर व्यक्तियों तथा वस्तुओं के सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण तक जा पहुंचती हो। स्मृति की कमजोरी उसका आत्म-केन्द्रण है और इसीलिए अधिकांश कविता आत्मरतिपूर्ण है।'[1] अर्थात आत्मरति की सीमाओं को लांघने वाली कविता ही महान कविता होती है। आत्म की सीमा से निकल कर विशाल सामूहिक चेतन में, पीछे बहुत पीछे जाकर वहीं से अनुभव तथा शिल्प का दाय ले आने वाली कविता, विश्व प्रसिद्ध नर्तकी आइसाडोरा डंकन ने अपनी सृजनात्मकता को एक 'आदिम-अनिर्णयात्मकता' बताया है, जब कलाकार 'सपूर्ण लटकाव की दशा' में होता है—तब वह किसी भी विशेष निश्चय, आशय या पूर्वाग्रह से मुक्त होता है। यह दशा कलाकार की संपूर्ण चेतन-अचेतन ज़िन्दगी से जीवनदान लेती है। 'दिनकर' की निम्नांकित उक्ति में प्रेरणा को एक विलक्षण शक्ति बताया गया है :

'चिन्तन की प्रक्रिया में जब मन ही नहीं, सम्पूर्ण अस्तित्व विलीन हो जाता है, उस समय हमारे भीतर एक विलक्षण शक्ति जाग पड़ती है, जो छलांग मार कर अदृश्य पर से आवरण को खींच लेती है, जो तर्कों की राह से न चल कर अनायास समाधान के दर्शन करा देती है। यही शक्ति प्रेरणा है।' (काव्य की भूमिका–१२९) इस उद्धरण में 'विलीन होने', 'विलक्षण शक्ति के जागने', 'अदृश्य' के दृश्य हो जाने तथा 'अनायास' समाधान मिलने की बातें की गई हैं। स्पष्ट है कि कवि या तो दैवी प्रेरणा का उल्लेख कर रहे हैं या अपने ही मानस के भीतरी कोष के अक्षय संचय के उघरने का। वास्तव में ये दोनों अर्थ एक स्तर पर समानार्थक हो जाते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी नाटककार जाँ काक्त्यू का मत है कि हम में कुछ प्रच्छन्न शक्तियां होती हैं जो हम में बहुत गहरे कार्यरत होती हैं। इन ही को हम अपनी चेतन शक्तियों से निकाल बाहर कर देते हैं। सृजन के क्षण में अचेतन से यह काव्य-सामग्री निकालने के लिए हमें चेतन की शक्तियों का उपयोग करना पड़ता है।

प्रेरणा का पहला सोपान कविता का प्रथम अनुभव होता है, जिससे सर्जक मन को पहले ही दो-चार होना पड़ता है। पहला भाव या विचार, जो मन में आ जाए, वही प्रेरणा की पहली मूर्ति होती है या कहें प्रेरणा

---

1. The making of a poem : artisian Review, Summer 1946 quoted from " The Creative Process : Page 124 (अनुवाद)

उसी भाव या विचार के रूप में कवि के मन में उतरती है। ठोस सृजन-प्रक्रिया के प्रसंग में देखा जाय तो कवि के मन में एक शब्द, एक पंक्ति या एक पदबन्ध उभरता है, फिर वह धीरे-धीरे अपना रूप संवारता चलता है, अपने को बनाता चलता है। कवि जितना चिन्तन या मननशील हो उतना यह पंक्ति या शब्द फलने-फूलने लगता है और पूरी कविता बन जाती है। चिन्तन उतना सार्थक और उद्दिष्ट होगा जितना वह अचेतन के अक्षय कोष में से अपनी अभिव्यक्ति के उपयुक्त शब्द और वाक्य पा सके। यों तो सृजन-प्रक्रिया की कोई अवधि निश्चित नहीं। कभी पूरी कविता क्षणों में बनती है, तो कभी वर्षों में भी अधूरी रहती है। यह प्रक्रिया उसी अनुपात से गति पकड़ती है, जिस अनुपात से कविता के उपयुक्त भाव मिलते जाएं, अभिव्यक्ति के लिए सक्षम बिम्ब मिलते जाएं। सृजन-प्रक्रिया इसी बिम्बान्वेषण और बिम्बोद्घाटन की क्रिया होती है। सृजन-प्रक्रिया एक साथ क्षणजीवी तथा स्थायी होती है। कवि क्षणांश में प्रेरणा ग्रहण करता है, फिर यथावश्यक बिम्बविधान से उसे सजा कर उसे अभिव्यक्ति के उद्देश्य तक ला पहुंचाता है। इस प्रकार रचना की सम्प्रेषणीयता पूर्ण हो जाती है। रचना-प्रक्रिय के बहुविध संक्रमण का सही संकेत यों ही किया जा सकता है। प्रेरणा से शुरुआत होती है, फिर विचार, कल्पना, बिम्बविधान, भाषा आदि से यह प्रक्रिया सम्पूर्ण, होती है। यह ठीक है कि सृजन-प्रक्रिया एक संपूर्ण, एक 'सार्वभौमिक' प्रक्रिया है और प्रेरणा का इसमें कोई अलग स्थान नहीं, पर अचेतन से उत्पन्न होने वाली या चेतन के उपयुक्त शब्द, ध्वनि या पदबन्ध के मिलने पर अचेतन को मथ कर रखने वाली प्रक्रिया की इससे शुरुआत होती है। बिम्ब ग्रहण या बिम्बांकन रचना प्रक्रिया का आवश्यक अंग बन जाता है, तथा कविता अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण में सफल हो जाती है। स्टीफेन स्पेण्डर ने कहा है कि एक शब्द, चित्र या बिम्ब फिर शेष कविता में या अपने को खोलता है या रंग बदल कर आता है। देवीशंकर अवस्थी इस प्रक्रिया को और खोल-खोल कर बताते हैं : अपने सारे निर्माण के दौरान यह (कविता) व्यंजना के अनेकानेक साधनों का संधान करती है— एक बिम्ब के निहितार्थ प्रथम पंक्ति में, तीसरी में दूसरी के पार आती हुई एक आवाज़ चौथी पंक्ति में, एक धवन्यात्मक संकेत, आठवीं पंक्ति में, ऊपर की पंक्तियों में व्यंजित सारे वातावरण की प्रतिक्रिया आदि विविध स्तर हमें एक ही कविता में उपलब्ध होते हैं... काव्य की यही समग्रता होती है।' (आलोचना और आलोचना—१४)

स्वयं व्यक्ति-कवि कहां तक अपनी स्थिति, अपने व्यक्तित्व का एलान करता है, जब रचना-प्रक्रिया कार्यशील होती है, हम ने युंग का मत ऊपर बताया है कि कवि तटस्थ होता है, क्योंकि वह माध्यम भर होता है। 'अज्ञेय' की कविता का विश्लेषण करते हुए श्री चन्द्रकान्त बांदिवेडकर ने एक समर्थ अध्ययन प्रस्तुत किया है। रचना-प्रक्रिया व्यक्तित्व का अनुषंग है, लेकिन व्यक्ति कवि जितना तटस्थ हो कर जीवन को भोगे तथा उस भोग को अपने सर्जक मन में तपने, संवरने दे, उतनी रचना सफल तथा सम्प्रेषण-सिद्ध होगी : 'रचयिता के व्यक्तित्व-निर्माण में अतीत की उपलब्धियों, भावी आकांक्षाओं और वर्तमान की सक्रियता, दायित्वबोध और भावबोध की तीखी संवेदनाओं का योगफल निहित रहता है। रचना के लिए जिस तटस्थता, निर्वैयक्तिकता और सौंदर्य-बोध की क्षमता रचयिता में अपेक्षित है यह सब रचयिता के व्यक्तित्व-संघटन का ही अनुषंग है। जीवन के भोक्ता को जितना संवेदन आवश्यक है, उतना ही उस संवेदन का संघटन भी, क्योंकि बिना सवेदन के, संघटन का मानवोचित भोग असंभव है। हर संघटन में विगत का संस्कार, अनागत के स्वागत की आकांक्षा और वर्तमान की सक्रियता का समाहार रहता है, भावना, बुद्धि, कल्पना सभी का एक विशिष्ट अनुपात में हाथ रहता है।'[1] संवेदन के संघटन पर यहां ज़ोर दिया गया है। इसी से कवि की तटस्थता और निर्वैयक्तिकता फलित होती है और इस में विगत का संस्कार, अनागत के स्वागत की तैयारी और वर्तमान, तीनों रहते हैं। दूसरे शब्दों में कवि तटस्थ हो तो संवेदन उसमें जगेगा और भावना, बुद्धि, कल्पना आदि को संगुम्फित करेगा। यह संगुम्फन कोई सचेतन प्रक्रिया नहीं। कवि में यह होती ही रहती है। या कहें कि कवि के व्यक्तित्व में इस संगुम्फन की प्रवृत्ति सहज होती है।

कवि का सक्रिय समर्पण

अचेतन से उद्भूत भावों, भाव बिम्बों, चित्रों पर कविता बनती है. इससे यह आशय नहीं लिया जाना चाहिए कि कविता के निर्माण में चेतनत्त्व सोया रहता है। कवि-व्यक्ति रचना-प्रक्रिया में तटस्थ रहता है, इससे भी यह मतलब नहीं कि वह व्यक्ति प्रभावहीन और बेबसी की स्थिति में रहता

---

१ अज्ञेय की कविता : एक मूल्यांकन : चन्द्रकांत म० बांदिवेडकर : सरस्वती प्रेस : १९७१ पृ० १२

है। वास्तव में रचना-प्रक्रिया एक सचेत प्रयास है। यह प्रयास है— सायास प्रयत्न। कोई कविता स्वयं नहीं बनती। कवि यदि माध्यम है, तो माध्यम भी महत्त्वपूर्ण होता है। केवल इतना है कि सृजन के क्षणों में यह माध्यम रचना तरंगों को निर्बाधता गुज़रने देता है। निर्बाध का ही दूसरा नाम तटस्थता है। काव्य चिन्तन इस सत्य को स्वीकारता है और स्वयं कवियों ने भी यह अपनी कविताओं में स्वीकारा है। केदारनाथ सिंह की कविता ध्यातव्य है :

...पर मैं
जब कहीं नहीं होता
सिर्फ कहीं होने की लगातार कोशिश में
सामने की भीड़ को
दूर से पहचानता हुआ
हवा के उस पार एक प्रश्न उछालता हूं
और हंसता हूं !
तो न जाने क्यों
मुझे लगता है :
कि गूंजहीन शब्दों के इस घने अन्धकार में
मैं
अर्थपरिवर्तन की एक अबूझ प्रक्रिया हूं
जिसके भीतर यह लोग;
झाड़ियां, बत्तखें और भविष्य
हर चीज़ एक दूसरे में घुली मिली हुई है।
जड़ें रोशनी में हैं
रोशनी गंध में
गंध विचारों में
विचार स्मृतियों में
स्मृतियां रंगों में...
और मैं चुपचाप
इस सम्पूर्ण व्यतिक्रम को
भीतर सम्भाले हुए
चलते चलते

झुक कर
रास्ते की धूल से,
एक शब्द उठाता हूँ
और पाता हूँ कि
अरे
गुलाब !

(केदारनाथ सिंह : अभी बिल्कुल अभी)

कवि इतना तो करता है कि एक प्रश्न उछालता है। यही प्रश्न उसकी पहली शर्त है, कविता की शर्त, जिसको मान कर सृजन-प्रक्रिया आगे बढ़ती है। फिर यदि सृजन-प्रक्रिया के दौरान कवि अपने को अर्थपरिवर्तन की एक अबूझ प्रक्रिया समझता है तो इसे उसकी तटस्थता मानना चाहिए। यह प्रक्रिया सम्पूर्ण होती है, स्वयं में सर्वांग। इस पहली शर्त को मानने के बाद फिर यह प्रक्रिया किसी बाह्य तत्त्व पर निर्भर नहीं होती। वास्तव में उसके भीतर उसकी जीवनी-शक्ति है, उसके अतिरिक्त वह किसी और की अपेक्षा क्यों करे? कवि-व्यक्तित्व इसी सर्वांग प्रक्रिया का साधन बनता है और साधक भी। वह एक साथ माध्यम भी होता है और कर्ता भी। दोनों में अन्तर तब आता है जब व्यक्ति कवि कोई कृत्रिम दार्शनिक मुखौटा ओढ़े और इस प्रक्रिया में बाधा बन जाय। होना तो यह चाहिए कि वह केवल वह हो— एक कर्ता— एक कृतिकार सर्जक व्यक्तित्व— रचना को झेलता हुआ, रचना के आयामों में से गुज़रता हुआ व्यक्तित्व भी। (धर्मयुग दि० २१-१-६३) लक्ष्मीकान्त वर्मा का कथन इस सत्य की पुष्टि करता है : 'कृतिकार अपने सघन अनुभूति के क्षणों में केवल अनुभूति के गुज़रने; होने, पाने और खोने का साक्षी होता है, उन बेचैनी के क्षणों में वह केवल अपने को पाने, बार-बार अन्वेषित करने और कभी-कभी अपने को खो देने के मूड में होता है। यहां न तो कोई पाठक होता है और न आलोचक। न तो उसका दार्शनिक व्यक्तित्व होता है और न विवेचक का। ...वहां उसके सृजन संदर्भ में उसका व्यक्तित्व होता है और अनुभूतियों की वह अद्वितीयता होती है जो एक साथ समष्टि से उसे विलग भी करती है और कहीं जोड़ने की भी कोशिश करती है।' इस तरह यह एक जटिल प्रश्न है कि यदि कवि व्यक्ति सृजन को होने देता है, तो वह स्वयं अनुपस्थित रहता है कि

उपस्थित। भौतिक दृष्टि से वही सृजन का कारण है और सर्जक है अतः यह प्रक्रिया उसी के भीतर होती है, उसी के मनोजगत में होती है। वह अपने सम्पूर्ण कवि-व्यक्तित्व, संवेदना, कल्पना, प्रतिभज्ञान, प्रेरणा, रचनाशक्ति तथा सामान्यज्ञान आदि के साथ उपस्थित रहता है। जब हम उसे तटस्थ कहते हैं, तो हमारा मन्तव्य यह होता है कि व्यक्तित्व परिपक्व होने के बाद कवि अपने ध्येय—काव्य-रचना के प्रति समर्पित होता है। उसकी इयत्ता यही सिद्ध करती है कि कोई भी अस्थानिक या असहज शक्ति उसे अपने इस ध्येय से विचलित नहीं कर सकती। यह असंभव है कि कवि तटस्थ रहे और भीतरी कविता उसके होने के बावजूद न हो या उसके न होने पर भी हो। तटस्थता निष्क्रिय स्थिति नहीं, बल्कि एक सक्रिय और घनात्मक स्थिति है। रचना रचयिता का साध्य और साधन है, तो इसकी निष्पत्ति उसके लिए घनात्मक ही हो सकती है, ऋणात्मक नहीं। जैसे युंग ने कहा था कि कृति ही कृतिकार को बनाती है अर्थात कृति स्वयं भी कृतिकार की मनोवैज्ञानिक निर्मिति का दर्पण है— प्रसिद्ध कलाकार विंसेंट वॉन गॉग ने माना है कि यदि आप मेरे चित्रों में कहीं कोई ठोस योग्यता देखते हैं तो वह इत्तिफ़ाक़ से नहीं, अपितु मेरे संकल्प और आशय से है।

●

तीन लघु कविताएं

ज़फ़र अहमद

एक

चारों ओर
ऐसा कुछ हो रहा है
जिसे क़लमबन्द करने से
क़ासिर हूँ
और ऐसे में
तुमने
क़द बढ़ा के
आधा द्वार बन्द कर लिया है

दो

कितने साहस से
सारे दर्द
साझा किये
जब कि
अकेले-अकेले
सहना भी
उनका
बहुत कठिन था

उसी समय

लब

सी लिए गए

तीन

रोम-रोम लावा उगा देने वाली तेज़ सनसनाती सर्द हवा

चमकते दांतों को छूकर

चारमीनार की अफ़्रिक़ी रौशनी तले

वीलेज के रहस्यमयी वातावरण में

तहलका मचाने लगी

और सब्ज़ कसैले ज़ायकों वाले घने जंगल में

आग सुलगती गई

●

उसका दर्द

—दीदार सिंह

कितने ही लोग उसे स्टेशन तक छोड़ने आए थे और इससे भी अधिक लोग उसे गांव से बाहर तक विदा करने आए थे। किसी का आग्रह था, ,काका, जाते ही खत लिखना।'

कोई कह रहा था, 'भय्या अगले साल फिर आना।'

दूसरे ने कहा, 'मेरी लड़की का काज आप ही के हाथों पूरा होगा, समय पर पहुँच जाना।'

'मेरे बेटे की शादी पर भी आना,' यह एक बुढ़िया की आवाज थी।

'ताऊ, सहर में जा कर हम लोगों को भूलना नहीं— यों ही आते-जाते रहना।'

जब तक गाड़ी नहीं आई लोगों के आग्रह जारी रहे। गाड़ी में भी ये आवाजें कितनी दूर तक उसका पीछा करती रहीं और फिर उसके दिल में समा गईं।

एक सप्ताह कितनी जल्दी बीत गया— जैसे कल ही की बात हो जब वह इस गांव में आया था। आंख झपकते ही सात दिन बीत गये। खुशी के पल कितनी जल्दी बीत जाते हैं और प्रतीक्षा के पल कितने लम्बे होते हैं।

उसे पूरे तीन वर्ष से प्रतीक्षा थी यहां आने की लेकिन हमेशा कोई न कोई रुकावट पड़ जाती रही। सात दिन पहले जब वह अपने छोटे लड़के के घर से गांव आया था तो गाड़ी से उतरते ही लोगों ने उसे आंखों में बिठा लिया था। गांव में उसका कोई सगा-सम्बन्धी नहीं रहता— फिर भी

उसे इस गांव से इतना ही प्यार है जैसे उस गांव के सारे लोग उसके अपने परिवार के ही सदस्य हों। इसी गांव में उसने सब से पहले आंख खोली थी— यहीं के पेड़ों के साथ झूल कर वह बड़ा हुआ था— इसी गांव में उसकी शहनाइयां बजी थीं और इसी गांव में उसने जीवन के चालीस वर्ष व्यतीत किये थे। वे चालीस वर्ष उसके जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा ही नहीं बल्कि सर्वोत्तम क्षण रहे।

अत: वह इस गांव का एक अंग है— कोई अंग अपने शरीर को कैसे छोड़ सकता है – कोई शरीर भी अपने किसी अंग को कैसे अलग कर सकता है। यही कारण है कि वह शहर की चकाचौंध में रह कर हर प्रकार की सुविधाओं में रहते हुए भी अपने गांव को नहीं भूल सका। बल्कि उसे वह शान्ति शहर में आकर मिली ही नहीं जो गांव से मिलती थी। उसने तो अपने लड़कों के आग्रह पर गांव छोड़ा था नहीं तो उसे गांव में कोई कष्ट अथवा अभाव नहीं था।

सात दिन तक वह पूरे गांव भर का अतिथि रहा— किसी के घर खाना— कहीं नाश्ता— कहीं चाय और कभी-कभी उसे दो-दो घरों में नाश्ता करना पड़ा— कई घरों से एक ही दिन में चाय पीनी पड़ी, फिर भी कई लोगों का गिला रहा कि काका आपने हमारे घर से कुछ नहीं खाया— हमारे साथ तो दो घड़ी बैठे ही नहीं — हमारे घर तो आए ही नहीं। लोग ऐसा प्यार तथा सम्मानपूर्वक आग्रह करते कि वह किसी को टाल न सकता।

जो भी रास्ते में मिलता— जो भी पास आता— या जो भी उसे घर बुलाता— सभी उससे आदि से अन्त तक ढेर सारी बातें पूछते— उसके परिवार के एक-एक व्यक्ति का हाल जानते।

'आपके बड़े लड़के के कितने बच्चे हैं ?'

'स्कूल जाते हैं ?'

'कौन-कौन सी क्लास में पढ़ते हैं ?'

'वे कभी गांव जाने को नहीं कहते ?'

'छोटे लड़के के बच्चों का क्या हाल है ?'

'आपकी बेटी अपने ससुराल में सुखी तो है ?'

'कितना लगाव है इन लोगों में और कितनी पूरी जानकारी रखते हैं', वह सोचता।

वह भी पूरे विवरण से सारी बातें बताता रहा और बड़े गौरव से अपने पोतों की होशियारी के किस्से सुनाता रहा।

गाड़ी अपनी पूरी रफ़्तार से भागी जा रही थी। सहसा उसे महसूस हुआ कि उसे भूख लगी है। उसे याद आया गांव से चलते वक्त रामू की मां कह रही थी 'रात के लिए खाना साथ रख दिया है। 'यह खाना रामू की पत्नी ने बनाया था। उसने डिब्बा खोला, देखा कि आलू वाले परांठे, साथ में अण्डों की भुर्जी थी— और एक डिब्बे में नाश्ते का सामान भी रखा था।

उसे याद आया कि जब वह गांव को चला था तो बहू घर में नहीं थी। जाने से पहले कह गई थी, 'मैं ज़रा जल्दी में हूँ आप खाना डाइनिंग-कार में ज़रूर खा लेना।'

वह खाना खाता रहा और खाना बनाने वाले हाथों के विषय में सोचता रहा कि खाना पकाते समय इन हाथों के मन में कितनी उमंग और कितनी तरंग रही होगी।

फिर उसे याद आया जब वह गांव आने से पहले अपने बड़े लड़के के हां गया था। वह स्टेशन के बाहर आधा घंटा इसी प्रतीक्षा में खड़ा रहा था कि शायद कोई लेने आया होगा। उसे कोई लेने नहीं आया, और न ही बाद में कोई स्टेशन तक छोड़ने आया था। जब वह घर पहुँचा तो उसके लड़के ने कहा था, 'माफ करना पिता जी मैं आपको स्टेशन तक लेने न आ सका। दरअसल उसी समय बोर्ड की एक जरूरी मीटिंग आ पड़ी। और फिर आप कौन से रास्ते से अपरिचित हैं। वैसे रास्ते में आपको कोई तकलीफ तो नहीं हुई ?'

'नहीं बेटा', उसने बड़े गर्व से उत्तर दिया था कि उसका बेटा बहुत ऊंचे ओहदे पर लगा है और बहुत व्यस्त रहता है। उसके पोतों ने आकर पांव छूने की अपेक्षा हाथ मिलाए थे।

लेकिन वहां जा कर उसका मन नहीं लगा। वहां उसके आराम या खाने-पीने में तो कोई कमी नहीं थी— नौकर आगे-पीछे घूमते थे। फिर भी वहां उसका मन नहीं लगा। एक-एक दिन एक-एक वर्ष के समान लगने लगा।

वह तो अपने बेटे से मिलने आया था— बहू से सेवा करवाने आया

था। लेकिन बेटे और बहू की शक्ल उसे दिन में एक-आध बार ही देखने को मिलती। कभी वह प्रातः ही कहीं निकल जाते, रात बहुत देर से लौटते— कभी दोपहर को घड़ी भर के लिए आते और खाना खाकर फिर भाग जाते।

'बेटा कभी आराम भी किया करो', कभी-कभी वह अपने बेटे को बातों में लगाने की कोशिश करता।

'पिता जी इस बिज़ी लाइफ़ में आराम कहां। ज़रा आराम करने बैठो तो दुनियां आगे निकल जाती है, लेकिन हमें तो दुयियां से आगे निकलना है।'

'सचमुच ही मैं दुनियां से पीछे रह गया हूं, दुनियां बहुत आगे निकल गई है' वह सोचता।

उसका बेटा बहुत ही व्यस्त रहता— आज कान्फ्रेन्स है, आज बोर्ड की मीटिंग है— आज पार्टी है— या आज किसी वी० आई० पी० से मिलना है।

घर में पोते उसका साथ देते— वे भी कभी उस पर हंसते, कभी किसी बात से टोकते और कभी अपने नवार्जित ज्ञान का मुज़ाहिरा करके अपनी होशियारी का परिचय देते।

उसका अधिक समय घर के नौकरों के साथ ही बीतता जिन से वह दिल खोल कर बातें करता लेकिन अपने बेटे और बहू के सामने दबा-दबा घुटा-घुटा सा रहता।

उसे आराम मिला था लेकिन स्नेह नहीं— सहूलतें मिली थीं लेकिन आत्मीयता नहीं— नौकर मिले थे लेकिन जिन्हें वह मिलने आया था वे उसके पास कम ही बैठे थे।

इसीलिए वह ऊब कर चार ही दिनों में वहां से भाग आया था और उसे रोकने का किसी ने आग्रह भी नहीं किया था। बेटे ने केवल इतना कहा था— 'आप इतनी जल्दी जाने की तैयारी कर लेंगे यह तो मैंने सोचा ही नहीं था।'

बहू ने भी औपचारिकता निभाई थी— 'मैं तो चाहती थी कि आप कुछ दिन और हमारे पास रहें लेकिन आपने तो तैयारी कर ली।

उसे रुकने को किसी ने नहीं कहा था बलिक सब के चेहरों पर सन्तोष

की झलक देखी जा सकती थी।

लेकिन गांव में आकर वापस जाने की उसकी तैयारी रोज धरी की धरी रह जाती— लोग उसे किसी न किसी बहाने रोक लेते।

'कितना अन्तर है अपनों और बेगानों में', वह सोचता आ रहा था। यह अन्तर अपनों-बेगानों का नहीं था— बल्कि यह अन्तर था दो पीढ़ियों का जो मानो एक दूसरे से विपरीत दिशा की ओर जा रही हों। यह अन्तर था दो छोरों का— दो संस्कृतियों का जो परस्पर दूर होती जा रही थीं और उसके बीच का फासला बढ़ता जा रहा था।

सहसा कोई चिल्लाया— 'दिल्ली आ गई।'

उसने अपना सामान समेटा और गाड़ी से उतर गया। गाड़ी से उतर कर उसे ऐसा लगा मानो उसके पांव मनों भारी हो गये हों और उससे चला न जाता हो। काया का दर्द तो भुलाया जा सकता है लेकिन आत्मा का दर्द······

कविता

आदमखोर

आदर्श

उसके पड़ोसी का घर
पूरी रोशनी देता हुआ
चटचटा कर जल रहा था
बिजली का खर्च व्यर्थ समझ
उसने सारे बल्ब बुझा दिये ।
अब उसका कमरा
शीशों के बाहर से आती हुयी
रौशनी से जगमगा रहा था

शिकारी आंखों में
छाई हुयी खुशी की चमक
उसके कमरे के शीशों को भेदती
उन आग की लपटों को चूम रही थी

उसने कस कर बन्द कर लिये
घर के तमाम दरवाजे
वह नहीं चाहता था
कोई जलता हुआ आदमी
उसके घर में घुस आये
और उसके घर की रहस्यमयी शान्ति को

अपनी चीखों से भेद डाले

वह एक उत्तेजना से हांफ रहा था
जैसे एक लम्बा सफर
उसने भाग कर तय किया हो ।

वह चौकन्ना सा
रात के गहराने का
बड़ी वेबसी से इन्तज़ार कर रहा था
और फिर
एक लम्बी प्रतीक्षा के वाद
धीरे से बिना आवाज़ किये हुए
उसने अपने घर का दरवाज़ा खोल कर
आस-पास शंकित नज़रों से झांका
मकान— कब्रों की मानिन्द
चुपचाप पड़े थे ।

अब वह दबे पांव
लगभग पंजों के बल चलता
जलते हुये घर के आस-पास
चहल-कदमी कर रहा था
आग की रोशनी में
उसका चेहरा तमतमा रहा था
उसकी पैनी आंखें
आग के भीतर
कुछ खोज रही थीं ।

यकायक उसने
जलते हुये लक्कड़ों के बीच
कुछ खींच कर उठाया
कंधे पर लादा
और भाग खड़ा हुआ ।

अब वह अपने कमरे में था
उसकी जीभ से पानी
गिर-गिर कर चू रहा था
मासूम बच्चे का
भूना हुआ गोश्त
उसकी मेज़ पर पड़ा था
वो खुशी में पागल सा
इतने लजीज़-भोजन को
बिना ईंधन खर्च किये
पा जाने की खुशी में
ठहाके लगा रहा था।

इक्कीसवीं शताब्दी के प्रवेश द्वार पर

—डॉ० संसार चन्द्र

सन् २००१ बीसवीं सदी का निर्याण और इक्कीसवीं का प्रवेश-द्वार है। सोचता हूं २००१ का शासन प्रारम्भ होने में अभी काफी देर है। फिर भी इसके स्वागत की ये हंगामी तैयारियां क्यों? इसमें जरूर कोई राज़ है? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ बीसवीं सदी ने अपने जीवन के ७५ वर्ष समाप्त कर लेने के बाद संन्यास ले लिया है। संन्यासाश्रम का भी अजब दस्तूर है। इसकी तनिक भी भनक पड़ते ही लोग जाने वाले को तो बिदाई और आने वाले को स्वागत के भार से स्खलित कर देते हैं। जाने वाले के लिये तो यहां तक वियोग-कातर हो उठते हैं कि उसको रुख्सत कर के ही चैन लेते हैं। उस समय हम इस अक़ीदे के सच्चे पैरोकार बन जाते हैं कि 'आशिक का जनाज़ा है ज़रा धूम से निकले।'

मुझे भी कुछ ऐसा ही अनुभव हो रहा है और सन् २०१ को काफी हद तक अपने करीब देख रहा हूँ। इसका जयघोष प्रारम्भ होने में अब कोई विशेष देर नहीं है। संसार की आंखें इसकी मस्त चाल की मुन्तजिर हैं। इसके चन्द्रमनोहरगात के दर्शनों के पूर्व ही केवल अभिनन्दन-पत्र ही नहीं बड़े-बड़े अभिनन्दन-ग्रन्थ तक भेंट करने की योजना पर अमल किया जा रहा है। वास्तव में यह कोई नया रिवाज नहीं। हर नई सदी हमारे लिये नया पैगाम लाती है। वह चांदनी की तरह धुली हुई, उजली-उजली, प्रथम प्यार की मादक झलक की तरह शोख चाल से इठलाती, बल खाती चली आती है। इसलिए हम इसकी रंगीन कल्पनाओं में खो जाते हैं और नवीन युग की नवीन झाँकी लेने के लिये लालायित हो उठते हैं।

भविष्य को जानने अथवा कहने की ललक बहुत पुरानी है। प्राचीन काल में लोग, तन्त्र-मन्त्र, ज्योतिष आदि की सहायता से भविष्य के गर्भ में छिपे रहस्यों का उद्‌घाटन करते थे। हमारा प्राचीन साहित्य आकाशवाणियों, वरदानों, शापों तथा नाना प्रकार के दैवी प्रयोगों से भरा पड़ा है। ऋषि-मुनियों के आगे तो भविष्य की घटनाएं हस्तामलकवत् होती थीं। 'कंस की मृत्यु कृष्ण के हाथों होगी' यह आकाशवाणी कई वर्ष पूर्व ही भूमण्डल पर प्रचार पा चुकी थी। भविष्य-ज्ञान सम्बंधी अध्ययन आज भी किसी न किसी रूप में चलता रहता है। समाचार पत्रों की एक बहुत बड़ी संख्या प्रति सप्ताह भविष्य सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री जुटाती रहती है। इस अखबारी फलादेश का यद्यपि कोई ठोस आधार नहीं होता तब भी हजारों-लाखों पढ़े लिखे लोग इसी माध्यम से अपने भाग्य का निर्णय देखते हैं। जन्त्रियों एवं पंचांगों में भी वर्षा, आन्धी, तूफान, तेजी-मन्दी, अकाल-सुकाल, युद्ध-शान्ति आदि विषयों पर सितारों के हिसाब से फलादेश ढूंढे जाते हैं।

आजकल भविष्यज्ञान के लिये 'फ़्यूचरालोजी' अथवा भविष्यशास्त्र का अधिक बोल बाला है। अतीत एवं वर्तमान की घटनाओं एवं प्रवृत्तियों को मूल बिन्दु मान कर ही भविष्य का महल खड़ा किया जा सकता है। श्री एच० जी० वैल्ज का इस दिशा में विशेष नाम है। रूस द्वारा १६५६ में प्रसारित स्पुतनिक की कई वर्ष पूर्व घोषणा का श्रेय इसी विद्वान को जाता है।

संसार भर में तहलका मचा देने वाला भविष्यविज्ञान का दूसरा चमत्कार आर्थर सी क्लार्क की पुस्तक 'इम्पीरियल अर्थ' है। क्लार्क महोदय अपनी इस रचना में सन् २००१ से बहुत आगे निकल गये हैं। इस पुस्तक में आज से तीन सौ तीन वर्ष बाद के मानव समाज का इतिहास मिलता है। पुस्तक का केन्द्रबिन्दु २२७६ है अर्थात् अमरीका की आजादी के पांच सौ वर्षों की पूर्ति— 'जश्ने आजादी की पांच सौ साला तकरीब' जो विश्व के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। इस दृष्टि से भी क्लार्क सही अर्थों में अमरीका के बाल्मीकि हैं। बल्मीकि ने भी तो भारत का आदिकाव्य रामायण रामायणी घटनाओं के घटित होने से पूर्व ही लिख दिया था।

अगली सदी मानव समाज के लिये क्या पैगाम लायेगी, उस समय की दुनियां का क्या रूप-रंग होगा, वह कितनी हसीन, दिलफरेब अथवा आतंक-पूर्ण होगी इस सब का जायज़ा लेने में अमरीकी साहित्यकार सब से आगे

है। इस सम्बन्ध में एलवन टाफलर कीन्फ्युचर शाक' रचना बहुत प्रसिद्ध हो चुकी है। जब मैं क्लार्क तथा टाफलर जैसे भविष्य मर्मज्ञों के कारनामों को देखता हूँ तो मुझे सन् २००१ के बारे में भविष्यवाणी करना कोई विशेष कठिन कार्य प्रतीत नहीं होता। परन्तु जब मैं इधर जमाने को परिवर्तन के तीव्रगामी घोड़ों पर सरपट भागते देखता हूँ तो मेरा उत्साह भंग होने लगता है। लोग कहते हैं 'कल की खबर नहीं' तो मैं कहता हूं 'पल की खबर नहीं'। खैर कहने का अभिप्राय यह है कि सन् २००१ के बारे में कोई प्रामाणिक वक्तव्य देने के लिये गज भर का कलेजा चाहिये। परन्तु इस नाजुक स्थिति में भी मुझे एक न एक रोशन पहलू दिखाई दे ही जाता है। वास्तव में मुझे २००१ तक पहुंचने के लिये अभी जीवन के कई वर्ष ढोने पड़ेंगे। वैसे भी सामान्य रूप से सुदूर भविष्य की घटनाओं के बारे में पेशीनगोई करने वाले की पोल आसानी से नहीं खुलती। इसलिये तो किस्मत की रेखा देखने वाले नजूमी सज्जन किसी भी नवजात बालक के राजा बनने की भविष्यवाणी झट छाती ठोक कर कर देते हैं। वह जानते हैं कि इस प्रकार की आशातीत एडवांस पेशीनगोइयों की परीक्षा की नौबत उनकी मुख्तसर सी जिन्दगी में कैसे आ सकती है ? सचमुच उन्होंने गालिब का यह शेर सुन रखा है— 'कौन जीता है तेरी जुल्फ के सर होने तक।'

आपको चाहे विश्वास न भी हो पर मुझे यह कहते तनिक संकोच नहीं कि सन् २००१ के मानव समाज की प्रत्येक गतिविधि का वर्णन सीधी एवं स्पष्ट भाषा में कर सकता हूं। २००१ का बर्थरेट एवं डैथरेट तक मेरी अंगुलियों पर है। भारत का यह विशाल भूखण्ड सन् २००१ में केवल ९४.५ करोड़ लोगों का ही आशियाना बनकर रह जायेगा। यह कोई बहुत बड़ी आश्चर्यजनक घटना नहीं होगी कि हमारी १९७१ के सैन्सेस की जनसंख्या को दुगुनी होने में तब भी आठ वर्ष शेष रह जायेंगे। परन्तु हर्ष का विषय है कि ये लोग न केवल हमारी अपेक्षा अधिक शिक्षित ही होंगे बल्कि अधिक संख्या में शिक्षित होंगे। १९७१ के सैन्सस के अनुसार भारत के केवल २२ करोड़ लोग ही शिक्षित थे जिनकी संख्या २००१ में सत्तावन करोड तक पहुँच जायेगी। शेष ३७ करोड़ शिक्षार्थियों के लिए स्कूल-कालिज एवं विश्वविद्यालय एक प्रकार से फैक्टरियों का रूप धारण कर लेंगे। फैक्टरियां भी लिलकुल इस ढंग की जो 'राउण्ड दी क्लाक' काम करती हैं।

चन्द्र विजय की अभूतपूर्व सफलता को आधार मान कर मानव की आगामी स्पेस यात्राओं का परिणाम निश्चित करना भी अब कोई कठिन कार्य नहीं रहा। इस प्रकार स्पेस लैंडिंग का दूसरा कामयाब चमत्कार १९८० में होगा। उसके बाद स्पेस लैंडिंग की प्रक्रिया एक रोटीन बन जायेगी। स्पेस विजय के इतिहास में सन् १९९० भी अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा जबकि जीवनधारी ग्रहों एवं उपग्रहों पर माइग्रेट करने के लिये लैंड की एडवांस बुकिंग प्रारम्भ हो जायेगी। इस प्रकार सन् २००१ के प्रवेश से पहले इस भूमण्डल की लगभग ८% आबादी इसे खैरबाद कह कर किसी और दुनियां की हवा खालेगी। सन् २००१ के समाप्ति तक पहुँचते-पहुंचते मानव अनेक नवीन सितारों पर विजय प्राप्त करता हुआ सितारों से भी आगे दूसरे जहान खोजने के लिये बेचैन हो उठेगा। उस समय महाकवि इकबाल की यह वाणी "सितारों के आगे जहां और भी हैं, अभी इश्क के इम्तहान और भी हैं" जिसे कभी एक फ़क्कड़ मिजाज शायर की बुलन्द-परवाज़ी कह कर ठुकरा दिया गया था एक सार्थक भविष्यवाणी के रूप में उसे और आगे बढ़ाने की प्रेरणा देगी।

सीमित परिवार आन्दोलन के जोर पकड़ लेने के बावजूद भी सन् २००१ में संसार की कुल आबादी के एक तिहाई और बढ़ जाने की संभावना है। परन्तु स्मरण रहे कि इतनी असाधारण जनवृद्धि से भी ट्रैफिक एक्प्लोयन का आतंक बढ़ने के बहुत कम लक्षण दिखाई देते हैं। ट्रैफिक विशेषज्ञों की दृढ़ धारणा है कि उस समय प्रगतिशील देशों की हवाई सर्विस में चालीस गुना और अर्धविकसित तथा अविकसित देशों में क्रमशः तीस तथा बीस् गुना वृद्धि की आशा की जा सकती है। इसी प्रकार ट्यूब गाड़ियां जो आजकल केवल इने-गिने समृद्ध देशों को ही ट्रैफिक रिलीफ दे रही हैं संसार के लगभग आधे भाग को सुविधा सम्पन्न बना सकेंगी।

जहां तक डाक व्यवस्था का सम्बन्ध है अभी तक अकेले भारत में ३६००० गांव इस सुविधा से वंचित हैं। सन् २००१ तक 'रिस्टवाच टेलीफोन' का रिवाज इतना जोर पकड़ लेगा कि लोग पत्राचार व्यवस्था को नकार कर प्रत्यक्ष बातचीत से ही अपना काम चला लेंगे। इसके साथ ही कम्यूनिकेशन सेटेलाइट जिन से आजकल केवल १०७ देश ही लाभ उठा रहे हैं का प्रभाव भी अर्श पर पहुंच जायेगा और रही-सही डाक-

तार व्यवस्था को निष्क्रिय एवं निष्प्राण बना देगा। बड़े-बड़े शहरों में तो डाकतार व्यवस्था केवल नाममात्र को ही रह जायेगी। दूसरे शब्दों में डाक विभाग का मुकम्मिल तौर पर ग्रामीकरण हो जायेगा।

अपने को एक नामी भविष्यवादी के रूप में प्रतिष्ठित करने के लोभ से पता नहीं मैं किस जनूं में क्या कुछ बक गया हूं। भविष्यवादी होना एक प्रोग्रेसिव स्टैप है। आजकल तो सारा संसार प्लैन युग से गुजर रहा है। प्लैनवादी और भविष्यवादी एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। भारत के कर्णधार भी पंचवर्षीय योजना के दीवाने हैं। कई प्रोग्रेसिव देश तो पच्चीस साला योजना बनाते हैं। सन् २००१ के तशरीफ लाने में तो अब पच्चीस से भी कम समय शेष है। इसलिए भविष्य निर्णय का यह सब से मौज़ूं समय है। इसलिए पाठकवर्ग से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि वह मुझे मुक्तहृदय से आशीर्वाद दे कि भारत निर्माण की भावी योजना में मैं भी भविष्य-विज्ञान के सहारे अपना तुच्छ योगदान दे सकूं। जमाने के समन्दर में जी भर डुबकियां लगा लेने से ही कल का गौहर हमारे हाथ लग सकता है। अल्लामा इकबाल ने आज से कई वर्ष पूर्व इस भविष्यवाद का कलमा इन शब्दों में पढ़ा था—

वही है साहिबे इमरोज़ जिसने अपनी हिम्मत से
ज़माने के समन्दर से निकाला गोहरे-फ़र्दा

कहानी

झरोखे की धूल

—शिव रैना

अगस्त का चुहचुहाता महीना ।

सब सो चुके थे। निर्मल ने अपने सजे-संवरे बेड-रूम का बॅल्ब बुझा रखा था। उसका इम्पोर्टिड ट्रांजिस्टर, अत्यन्त धीमी आवाज़ में अभी भी विदेशी केन्द्रों का हल्का-फुल्का, कर्णप्रिय ऑर्केस्ट्रा उगल रहा था। पास ही उसकी पत्नी अस्तव्यस्तावस्था में सोई थी। डेढ़ वर्ष की सुमन अंगूठा चूसते-चूसते पायताने पर ढेर हो गयी थी। पॉउडर और चमेली की गन्ध सना बड़ा अजीब माहौल था कमरे का।

नींद कोसों दूर चली गयी थी आज। क्योंकि आज उसके सामने वाले फ़्लैट में एक जवान प्रोफ़ेसर की शादी हुई थी। दूल्हा-दुल्हन का बेड-रूम तीसरी मंज़िल पर था। उनका कमरा निर्मल के ग्रॉऊंड फ़्लोर कमरे से पचास गज़ से अधिक दूर न था। रात्रि की निस्तब्धता में प्रोफ़ेसर के कमरे की सांसें व ख़ुर्राटे भी निर्मल के कमरे में 'प्रसारित' होने लगते थे।

निर्मल को रह-रह कर दो वर्ष पूर्व हुई अपनी शादी के स्वप्निल दिन याद आ रहे थे। उसकी सांसें तेज़-तेज़ चल रही थीं। कलाई-घड़ी देखी। दो बजे थे। निशाचर, रोगियों और जवान धड़कनों के सिवा सब सो चुके थे। उसने पुनः पत्नी के कसमसाए गोरे-चिट्टे शरीर को निहारा; दांतों पर जीभ-सी फेरी और फिर वह कमरे की खिड़की का झीना पर्दा सरका कर, प्रोफ़ेसर के कमरे की ओर देखने लगा। प्रोफ़ेसर के नये-नवेले

कमरे की खिड़कियों पर तीन-चार दूधिया, महीन पर्दे लहरा रहे थे। पंखे के हवाई थपेड़ों से उनमें हलचल मची हुई थी। मिल्की बल्ब की रोशनी छन कर बाहर आ रही थी। प्रोफेसर और उसकी नवोढ़ा के शोख कपड़े छाया-चित्रों की भांति निर्मल को स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। उसकी कनपटियां बजने लगीं। वह आंखें फाड़-फाड़ कर उधर देखने लगा।

देखते-देखते दोनों छाया चित्र हिले और टिक् की आवाज़ करता कमरे का बल्ब बुझ गया। फिर एकाएक ज़ीरो पावर का बल्ब अपनी रोशनी बिखेरने लगा था। यह रोशनी झीने पर्दों और परछाइयों को और अधिक कामोत्तेजक बनाए दे रही थी।

निर्मल तनाव से भर उठा। पूरे शरीर का लहू उसके दिमाग की ओर दौड़ने लगा। उसने चांदनी में नहायी पत्नी को फिर एक बार गौर से देखा। उसका पेटीकोट रानों तक सरक आया था। निर्मल ने पत्नी पर झीनी सी चादर डाल दी और स्वयं खिड़की पर कुहनियां टिका कर प्रोफेसर के कमरे की ओर तकने लगा।

उसके विचारों में बवण्डर उठने लगे। विचार सागर में कड़वी-मीठी उत्ताल तरंगें लहराने लगीं। वह उसी मुद्रा में एक-डेढ़ घंटे [illegible]क निरंतर और अपलक प्रोफेसर के कमरे को तकता खड़ा रहा। [illegible]की दृष्टि में ऐक्स-रे की शक्ति आ गई थी। अनुभव और बेपर की [illegible]ना के यान पर बैठ कर वह प्रोफेसर और उसकी लम्बी-तगड़ी डॉक्टर बीवी के प्रथम मिलन के गुप्त फोटो उतारने लगा था। प्रोफेसर के बेड-रूम की बत्ती इस बीच निर्भयता से पांच-दस मिनट के अन्तराल से जल-बुझ रही थीं।

निर्मल बहुत कुछ सोच गया। विचार किसी आवारा और मुंहज़ोर घोड़े की तरह बेकाबू हुए जा रहे थे।

'यह पाप है निर्मल', वह सोचने लगा। मगर धरती का प्रत्येक नव-विवाहित व्यक्ति आखिर भावना-प्रवाह में बहता हुआ यह क्यों नहीं सोचता कि उसकी पत्नी को कोई घूर सकता है, उसके कमरे में होने वाली एक-एक बात को सुन सकता है क्योंकि दीवारों को उस दिन एक-दो नहीं सैंकड़ों कान लग जाते हैं। फिर क्यों कर लोग रात्रि की नीरवता

में अपनी उच्छृंखल क्रियाओं को इतनी बेबाकी से उजागर होने देते हैं? अब प्रोफेसर और उसकी नयी-नवेली डॉक्टर पत्नी को ही लो। कितने नासमझ बन गए हैं यह इस समय। कमरे की खिड़कियां बन्द करके मोटे पर्दे क्यों नहीं गिराते यह लोग? मनुहार की खुसर-फुसर को ट्रांजिस्टर की चीख-पुकार तले क्यों नहीं कुचल देते? बार-बार रोशनी जला-बुझा कर मिलन-सायरन क्यों बजाया जा रहा है?

एकाएक निर्मल के विचार-प्रवाह पर ब्रेक लग गये। सुहागरात वाले दिन तो मैंने भी ऐसी ही अनाड़ी हरकतें की थीं। आखिर क्यों? क्या मैं एक-दो दिन प्रतीक्षा नहीं कर सकता था? पत्नी से आत्मीयता भरी बातें करके ही क्यों न सो गया मैं उस रोज़? विवाह में शामिल सगे-सम्बन्धियों की उपस्थिति में क्यों सारी रात जागता रहा था? क्या क्या सोचा होगा सब आस-पास वालों ने? किन्तु निर्मल को तीसरे विचार से और भी ग्लानि होने लगी। उसे अनुभव होने लगा कि जैसे वह किसी भयंकर मानसिक रोग से पीड़ित है। नार्मल सेहत, अच्छी नौकरी और सफल परिवार का वह भले ही दम भरे, उसका मन रोगी है। यदि नहीं तो क्यों वह नवविवाहितों के बारे में किशोरावस्था से ही सोचता चला आ रहा है? पास-पड़ोस में शादी हो तो वह घर बैठे क्यों उत्तेजित हो जाता है? क्यों वह रात्री के सन्नाटे में नवविवाहितों की सक्रिय वार्ता कैच करने के लिए तरसता है? कल्पना में सुलेमानी टोपी पहन कर क्यों वह शहर भर के शयन-कक्षों की यात्रा किया करता है? क्या वह रम्भा जैसी पत्नी से सन्तुष्ट नहीं? क्या कमी है उसकी मधुर स्वभाव की हिरणी जैसी मधु में? हो क्या गया है उसे?

प्रोफेसर के कमरे में प्रकाश का खेल अभी भी निश्चिन्तता से खेला जा रहा था। अब तो उसे प्रोफेसर के कमरे से आते छिटपुट स्वर भी सुनाई देने लगे थे।

खटाक्!

निर्मल बुरी तरह चौंक पड़ा। उसकी खिड़की के पास ही गली से किसी चीज़ के गिरने की आवाज़ आई थी। उसका सारा शरीर सर से पांव तक कांप कर रह गया। वह चौकन्ना हो गया। गली में पूरी तरह अन्धेरे का साम्राज्य स्थापित था। कुछ ही क्षणों में चांद बादलों

की ओट से जब बाहर निकला तो गली में सब कुछ अस्पष्ट ही सही, दीखने लगा था। उसने अपनी खिड़की के आधे पर्दे की ओट से बाहर झांका— एक छायामूर्ति उसकी खिड़की के साथ सटी खड़ी थी।

निर्मल को काटो तो खून नहीं। भय, क्रोध और उत्तेजना के मिले-जुले प्रहार से वह कुछ क्षणों के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। कुछ क्षणों के बाद उसने जेब में एक चाकू रखा और फौरन मकान के पिछले गेट से कूद कर चुपके से छायामूर्ति को दबोच लिया। अजनबी चूं तक न कर सका।

सारा कांड दो-चार मिनट में ही नाटकीय ढंग से सम्पन्न हो गया था। धर-पकड़ के दौरान प्रोफेसर के कमरे का बड़ा बल्ब भक् से जल उठा था। और प्रोफेसर गली में तशरीफ ले आए थे।

चोर को रातों-रात निकटवर्ती थाने में ले जाया गया। भारी मार के बावजूद चोर चुप्पी साधे था।

थानेदार ने मुहल्ले वालों को आश्वासन दे दिया था कि वह सुबह तक चोर से सब कुछ उगलवा लेगा। अगले रोज़ निर्मल, प्रोफेसर वर्मा और मुहल्ले के अन्य लोग सुबह होते ही थानेदार से मिले।

थानेदार मुस्कराकर बोला— खोदा पहाड़ और निकला चूहा। रात वाला चोर साला और कोई नहीं साथ वाले गांव का गूंगा दर्जी है। दर्जी अव्वल पिटाई के बाद इसने दस्ती बयान दिया है कि वह चोर-वोर नहीं है। वह तो आधी रात के समय गली-मुहल्लों के शयन-कक्षों की आवाज़ें सुनने निकला करता है। साला बेड-स्विच कहीं का।

हिन्दी कथा साहित्य में रामचरित

—डा० निज़ाम उद्दीन

हिन्दी कथा साहित्य में राम कथा का चित्रण बीसवीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता; इसका सबसे बड़ा कारण तो यही है कि हिन्दी कथा-साहित्य का इतिहास १९वीं शताब्दी के अन्त में ही आरम्भ हुआ। इससे पूर्व रामचरित का गह-गम्भीर चित्रण काव्य और नाटक का ही विषय रहा। फिर रामकथा में तो एक अलौकिक आकर्षण है, एक चुम्बकीय शक्ति है जो सभी सहृदय एवं सम्वेदनपरायण कलाकारों को अपने मोहपाश में परिबद्ध कर लेती है। जब कवि या नाटककार रामचरित की प्रतिमा पर अपने श्रद्धासुमन अर्पित करता है तो फिर कथाकार इस पुण्य के भागी क्यों न बनते? अतः प्रेमचन्द, कृष्ण हसरत, चतुरसेन शास्त्री, नरेन्द्र कोहली आदि ने रामकथा को अपनी कहानियों एवं उपन्यासों का आधार बनाया है।

रामकथाकारों में सर्वप्रथम हिन्दी-उपन्यास के चिर गौरव प्रेमचन्द का नाम उल्लेखनीय है। १९३८ में 'रामचर्चा' नामक कहानी लेखक ने ३४ प्रकरणों में प्रस्तुत की। इस सुदीर्घ कहानी में (सातों काण्डों की सम्पूर्ण कथा में) आदर्श और यथार्थ का मणिकांचन योग है। प्रेमचन्द की कहानियों का वैशिष्ट्य आदर्शवाद है और इस आदर्शवाद को कर्तव्य

की बैसाखियों पर चला कर व्यावहारिक रूप देने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। यहां 'रामचर्चा' में भी लेखक ने कर्तव्यपरायणता की ओर संकेत करना अभीष्ट समझा है— "उनके जीवन का अर्थ केवल एक शब्द है और उसका अर्थ है कर्तव्य। उन्होंने सदैव कर्तव्य को प्रधान समझा। जीवन भर कर्तव्य के रास्ते से नहीं हटे। कर्तव्य ही के लिए चौदह वर्षों तक जंगलों में रहे, अपनी जान से प्यारी पत्नी को कर्तव्य पर बलिदान कर दिया और अन्त में अपने प्रियतम भाई लक्ष्मण से भी हाथ धोया। प्रेम, पक्षपात और शील को कभी कर्तव्य के मार्ग में नहीं आने दिया। यह उनकी कर्तव्यपरायणता है कि सारा भारत देश उनका नाम रटता है और उनके अस्तित्व को पवित्र समझता है। इसी कर्तव्य-परायणता ने उन्हें आदमियों से ऊपर उठा कर देवताओं के समकक्ष बैठा दिया है।' (रामचर्चा पृ० १९८) यहां प्रेमचन्द ने अपनी अवधारणाओं को ही रामकथा के द्वारा अभिव्यक्त किया है। कथा में कोई हेर-फेर नहीं, मौलिक उद्भावनाएं नहीं, केवल उसे यथार्थ रूप देकर आदर्शवादी भावना को ही संपुष्ट करना था। उन्होंने 'रामचरितमानस' की अपेक्षा 'वाल्मीकि रामायण' का अनुकरण करना सुविधाजनक समझा।

बीसवीं शताब्दी एक नूतन सांस्कृतिक एवं राजनैतिक अभिजागरण लेकर आई। यहां चिर प्रतिष्ठित पौराणिक एवं धार्मिक मान्यताओं की जड़ें एकदम हिल उठीं। जहां रावण को महानिन्दा एवं महाघृणा का पात्र समझा जाता था, वहां इस ओर विरचित रचनाओं में उसे महापंडित, महाज्ञानी और मर्यादापुरुषोत्तम की गुणावली द्वारा स्मरण किया गया। कृष्ण हसरत ने 'रावण राज्य' (१९२३) की रचना ४० परिच्छेदों में की है। इसका पूर्वार्द्ध रावण के अभ्युत्कर्ष का प्रतिपादन करता है। और उत्तरार्द्ध विभीषण-द्रोह तथा राम-विजय का चित्रांकन करता है। लेखक ने भूमिका में अपना दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त किया है —

"कविकुल चूड़ामणि महर्षि बालिमकि ने रावण के चरित्र चित्रण में कोई कमी नहीं रखी किन्तु इसके उपरान्त भाषाकाव्य में कविवर तुलसीदास आदि ने रावण को हर तरह से नीचा दिखाया है। पहले तो बहुत संक्षेप में राजत्वकाल का वर्णन, दूसरे उस वर्णन में भी मूढ़, कुटिल, कुकर्मी राक्षस आदि हीन कर्म को दिखा कर उसे समाज की दृष्टि में पतित कर

देने का प्रयास किया है जिससे लोग रावण को वास्तव में राक्षस और नीचकर्मा मानने लगे।"

लेखक राक्षस-संस्कृति के प्रवर्तक रावण के विभूतिगर्भित चरित्र का उत्कर्ष दिखाना अपना ध्येय समझता है और रावण को उसके शुभ, सर्वसौख्य-कारक कर्मों के लिए प्रशंसनीय माना है—"मेरे प्रतिनिधियो! तुम इस प्रकार का राजकाल चलाओ जिसमें फिर पीछे पछताना न पड़े। जहां तक बन पड़े अपने धर्म का प्रचार करो: राजा और प्रजा का एक धर्म हो जाने से राज्य की नींव बहुत पक्की हो जाती है। विद्यार्थी से प्रजा चिढ़ती है। इसलिए युक्तिपूर्वक राज्यपरिचालन कर तुम लोग सबसे पहले इसका प्रयत्न करो जिससे देवता और ब्राह्मणों के चलाये लोक-धर्म से घृणा कर प्रजा हमारे राक्षस-धर्म को पसंद करे। इसके बाद लंकेश की जय-जय करके सभा-भवन गूंज उठा। सब लोगों ने रावण की प्रशंसा की कि ऐसी नीति कभी किसी ने नहीं चलाई।" (पृ० ११८) लेकिन अन्ततोगत्वा लेखक ने विवेकशीलता प्रदर्शित करते हुए रावण को उसके नीच एवं पतित कर्मों के लिए नीच-पतित माना— "एक समय उसके शुभ कर्मों से उसका उत्थान और दूसरे समय उसके अशुभ कर्मों से उसका पतन हुआ। रावण ने प्रथम अपने चरित्र में जितना उद्योग किया ही उतना वह उन्नत हुआ, अन्त में जितना अन्याय और अभिमान किया ही उतना पतनावस्था को प्राप्त हुआ।"

'वैशाली की नगरवधू' के बहुविश्रुत उपन्यासकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'वयंरक्षाम:' (१९५५) १८ अध्यायों में परिव्याप्त एक विशाल-काय राम-वृत्त-आधारित उपन्यास है। विवेच्य उपन्यास एक जीवन्त कृति है जिसमें इतिहास-रस के साथ-साथ काव्य-रस भी है, कल्पना की अत्युच्च उड़ानें भी हैं, संस्कृति के मधुर-कटु चित्रण भी हैं। राम-रावण की वंशावलियों का टूटता-जुड़ता, झूठा-सच्चा इतिहास भी है और टूटे-बिखरे प्रसंगों को अनुस्यूत करने का अनवद्य एवं मौलिक प्रयास भी है। जो लेखक लगभग तीन सौ पृष्ठों में अपनी ऐतिहासिक मान्यताओं एवं अन्वेषणों का ब्योरा प्रस्तुत करने की क्षमता रखता हो उसके मौलिक तथा अभिनव चिंतन पर प्रश्न-चिह्न लगाना अल्पज्ञता तथा पूर्वाग्रह माना जायेगा। लेखक ने रामकथा पर पड़े पौराणिक जालों को दूर हटाया

है और एक प्रकृत-स्वस्थ ऐतिहासिक व सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उसे आकलित करने का कष्टसाध्य प्रयास किया है। राम का इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व देश-विदेश की संस्कृतियों को अनुरंजित करता है। और यह भी जान पड़ता है कि स्वयं रावण का बल-प्रताप क्रान्त रूप धारण कर राम के बल-प्रताप की महिमा में ही अन्तर्भुक्त हो गया है। लेखक के शब्दों का इस दृष्टि से उल्लेख करना यहां अपरिहार्य है— "राम-रावण के इस महायुद्ध में लगभग सम्पूर्ण दैत्य-दानव नागवंशी राजा और राज-प्रतिनिधि रावण के सहायतार्थ आये थे। रावण सप्तद्वीप पति था जो उस काल लंका के चारों ओर फैले थे। आजकल की भौगोलिक परिस्थिति यद्यपि बदल चुकी है परन्तु वे द्वीप आज आस्ट्रेलिया, जावा, सुमात्रा, मैडगास्कार, अफ्रीका आदि नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे प्रबल शत्रु को मारना आसान न था। तिमिध्वज, शंकर और वर्चिन की समाप्ति के बाद रावण का यह निधन ऐसा था जिसने सम्पूर्ण अनर्या-बल तोड़ दिया था। इसी से राम का नाम और यश इन द्वीपों में फैल गया और भू-मण्डल में विख्यात हो गये। लोग महादेव और जगदीश्वर की भांति रावण के स्थान पर राम की ही पूजा करने लगे। चम्पा, कम्बोडिया, थाईलैंड, बरमा में भी राम-प्रताप व्याप गया। योरुप की जातियां किसी न किसी राम-प्रभावित प्राचीन जाति से ही सम्बन्धित हैं। अतः योरुप की सभी प्रमुख जातियों में— जैसे इंगलैड, स्पेन, स्वीडन, नार्वे, स्केन्डीनेविया, ग्रीस और इटली भी राम-प्रभाव से रहित न रह गये। इस प्रकार आज की उपस्थित सब जातियों में इस आर्य नेता विजेता मर्यादापुरुषोत्तम राम का किसी न किसी रूप में सांस्कृतिक मिश्रण है।" (पृ० ७६६)

यह उपन्यास न केवल अपने कथानक की अभिनव विशिष्टताओं के कारण एक महत्वपूर्ण रचना है अपितु भाषा-शैली की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। वीर, रौद्र, करुण और शृंगार रसों का सुन्दर मिश्रण है। भाषा अत्यधिक स्वाभाविक और रोचक है। संस्कृत-मिश्रित भाषा में संवादों का अपना नया रंग है। अग्रांकित पंक्तियों में भाषा का लालित्य एवं प्रांजल्य देखिए— "अस्तंगत सूर्य की रक्तिम रश्मियां वनश्री को रंजित करने लगीं। तरुण ने धीरे से रमणी को शिलाखण्ड पर बैठा कर अधोवस्य वेनी का बन्धन किया। स्वयं कटिबन्धन पहना—

मृगाजिन धारण किया, फिर उसके लाक्षारंजित चरण युगल गोद में लेकर कच्छप-निर्मित उपान्त चरणों में डाल चर्म रज्जु बांधने लगा।" (पृ० ६)

"इस कथा में एक लेखक के नाते मैंने थोड़ी स्वतन्त्रता बरती है, यद्यपि मूल कथा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ऋषि बाल्मीकि की 'रामायण', तुलसी का 'रामचरितमानस', कम्बरामायण' और मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' मुझे प्राप्त है और मैं उनका अध्ययन कर सका। इस पुस्तक की कथा में इन सबका समावेश हो सकता है वैसे कथा के जो उपेक्षित स्थल मुझे अच्छे लगे, कल्पना के आधार पर मैंने लिख डालने का यत्न किया।" ये उद्‌गार अक्षय कुमार जैन ने अपने कहानी संग्रह "युगपुरुष राम" (१९५४) की प्रस्तावना में अभिव्यक्त किये हैं। संग्रह में ३८ कहानियां हैं। कुछ कहानियों में पौराणिकत का प्राचुर्य है जैसे 'विदेह को धरती की भेंट', 'बन को प्रस्थान और शबरी का आतिथ्य', 'महापण्डित रावण-आचार्य के रूप में', 'रावण की अन्तिम अपूर्ण कामना', 'धरती—धरती की गोद में लय।' कहानीकार को रामकथा के मर्मभेदी प्रसंगों की सूक्ष्म जानकारी है और ऐसे प्रसंग, निःसंदेह, मौलिकता मंडित हैं। लेखक ने 'महापण्डित रावण-आचार्य के रूप में' नामक कहानी में रावण के आचार्यत्व का प्रतिपादन खुले शब्दों में किया है। राम, रावण को शिव-स्थापना के यज्ञ का आचार्य बनाते हैं और उस यज्ञ का एकमात्र उद्देश्य भी रावण को विजित करना है। सब कुछ जानते हुए भी रावण ब्राह्मण होने के कारण यज्ञ कराने का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लेता है। 'सब के हृदय में भाव था कि रावण क्या मर्यादापुरुषोत्तम नहीं ?' कहानी के अन्त में कहानीकार का ऐसा कहना पुराण-सम्मत है। उधर 'राजतिलक नहीं, बनवास' नाम कहानी भी नयी मान्यताओं को व्यंजित करती है जिसमें कैकेयी राजनीतिक-उद्देश्य से अभिप्रेरित होकर वर-याचना करती है— "पर महाराज, यह सुनिश्चित है कि राम को बनवास देना पड़ेगा। वह अयोध्या से बांधा जाना नहीं चाहिए, वह जम्बूद्वीप का महापुरुष है। आप उसे वन में भेज दीजिए।" (पृ० २१)

नरेन्द्र कोहली ने रामकथा को औपन्यासिकवृत्त में परिबद्ध करने का गवेषणात्मक प्रयास किया है। उन्होंने 'दीक्षा', 'अवसर', 'संघर्ष की

ग्रोर' तथा 'युद्ध' शीर्षक से चार उपन्यासों में संपूर्ण रामकथा को चित्रित करने की योजना को साकारित करने का प्रयत्न जारी रखा है और 'दीक्षा' (१९७५) इस शृंखला की प्रथम कड़ी है। यों 'अवसर' भी शीघ्र प्रकाशित होने वाला है। उसका एकाध अंश 'धर्मयुग' में देखने को मिला है। 'दीक्षा' एक सुन्दर और महत्वपूर्ण उपन्यास है। लेखक ने राम कथा को माध्यम बनाकर प्रकारान्तरेण अपने युग-समाज को मुखरित किया है और उसमें तर्क-संगतता तथा प्रामाणिकता की प्रतिष्ठापना की है। यह तार्किकता ही है जिसने उपन्यास को अतिप्राकृतिक शक्तियों के हाथ का खिलौना नहीं बनने दिया। अतः इसे हमें एक 'मौलिक जनवादी कृति' के रूप में ग्रहण क ना चाहिए। लेखक ने समसामयिक परिस्थितियों का, जनता की पीड़ा-यातना का यथार्थ दृष्टि म अवलोकन किया है। यहां जनवादी नैतिक शक्तियों की जांच में रामकथा के पात्रों को पकाया गया है।

नरेन्द्र कोहली को इस उपन्यास का सृजन करने की अभिप्रेरणा बंगला देश में पाकिस्तानी सेनाओं (१९७१ के युद्ध में) के घोर अत्याचारों से मिलती है। हिंस्र पशुओं के रूप में इन सैनिकों ने बुद्धिजीवियों को निर्दयता के साथ गोली से भून डाला था। जनता पर होते सेना के निर्बाध अत्याचारों को देख कर कौन संवेदनशील व्यक्ति न कांप उठता ? इनसे लेखक के हृदय में घृणा, आक्रोश, पीड़ा, आक्रोश का धधकता ज्वालामुखी 'दीक्षा' के रूप में फूट पड़ा। भूमिका में लेखक कहता है —

"बंगला देश कहां है ? वह सिद्धाश्रम में भी हो सकता है, चित्रकूट में भी और जन-स्थान में भी— पाकिस्तान तब नहीं था, किन्तु राक्षस तो थे। वे जन-सामान्य, अबोध प्रजा, का रक्त पी रहे थे उनकी हड्डियां चबा रहे थे, स्त्रियों का शील भंग कर रहे थे, बच्चों की हत्याएं कर रहे थे। बुद्धिजीवी ऋषि नेतृत्व देने के लिए आगे आए तो अमेरिका के समान रावण भयभीत हो उठा। यदि पिछड़ी हुई जातियों को नेतृत्व मिला तो फिर रावण किसका रक्त पिएगा ? उसने बुद्धिजीवियों की हत्याओं के लिए राक्षसों को प्रेरित किया। राक्षसों से ऋषि जूझे, जन-सामान्य जूझा, वानर तथा ऋक्ष जैसी पिछड़ी जातियां जूझीं— राम के नेतृत्व में।"

यह उपन्यास का प्रेरणा-बीज है। यहां नरेन्द्र कोहली ने रामकथा

विषयक अपने कुलबुलाते संदेहों को भी निच्छलता से प्रकट किया है— राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न की वय के विषय में उनकी कितनी ही जिज्ञासाएं बनी रहीं। राम को एक किशोर बालक के रूप में उन्होंने स्वीकारा नहीं। चारों भाइयों को उन्होंने न समवयस्क माना है और न पुत्रेष्टि यज्ञ को स्वीकार किया है। लक्ष्मण की हृदयहीनता को लेखक के हृदय ने अस्वीकार कर दिया। यानी यह कैसे हो सकता है कि लक्ष्मण ने चौदह वर्ष तक न अपनी पत्नी को याद किया, न सीता ने अपनी बहन उर्मिला को? क्या अहल्या व्यभिचारणी थी जो उसे शाप दिया गया? क्या सीता सीरध्वज की पुत्री नहीं थी, फिर किसकी थी? शिव-धनुष क्या था? विश्वामित्र के सिद्धाश्रम के सन्निकट राक्षस क्या करते थे, उनके अत्याचारों का स्वरूप क्या था? वे विश्वामित्र को ही परेशान क्यों करते थे और विश्वामित्र ने उनके संहार के हेतु राम का ही चयन क्यों किया? आदि प्रश्नों तथा जिज्ञासाओं की सरिता में लेखक डूबता-तैरता किसी न किसी प्रकार समाधान के तट पर पहुँचता है। यह उपन्यास को पढ़ने से स्वत: स्पष्ट हो सकता है।

राम एक स्थान पर विश्वामित्र से पूछते हैं कि आपने स्वयं राक्षसों का संहार क्यों नहीं किया। इसके उत्तर में ऋषिवर कहते हैं— "प्रकृति किसी एक व्यक्ति को अपनी सम्पूर्ण शक्तियां नहीं देती। दो पक्ष हैं, पुत्र! एक चिन्तन और दूसरा कर्म। जो चिन्तन करता है, न्याय-अन्याय की बात सोचता है, सामाजिक कल्याण की बात सोचता है उसके व्यक्तित्व का चिन्तन-पक्ष विकसित होता है और उसका कर्मपक्ष पीछे छूट जाता है। ...उसकी कर्म-शक्ति क्षीण हो जाती है... केवल कर्म व्यक्ति को राक्षस बना देता है। न्याय और अन्याय का विचार मनुष्य को ऋषि बना देता है।...जब मुझ में कर्म था; तब चिंतन नहीं था; पर आज जब चिन्तन है, ज्ञान है, ऋषि कहलाता हूं— कर्म की शक्ति मुझ में नहीं रह गई है। सामान्यत: बुद्धिवादी ऋषि अपंग और कर्मशून्य हो जाता है।" लेखक के विचार बहुत ही मर्मभेदी, सत्यावलम्बित और विषयानुकूल हैं। राम में अवतारत्व की अवधारणा कर्म और ज्ञान के योग पर ही टिकी है।

उपन्यास में आधुनिक युग का सम्पूर्ण बिम्ब उभरता हुआ दृष्टिगत

होता है। राम परशुराम को— उसके ऋषित्व को ललकारते हैं, उसके आडम्बर को अनावृत करते हैं— 'क्रान्तिकारिता और रूढ़िवादिता भी साथ-साथ चल पाती हैं क्या? आपने कभी सोचा है?... अपने समय के क्षत्रियों की हत्या कर आप अपना परशु लिए-लिए महेन्द्रगिरि पर जा बैठे। आपने यह नहीं देखा कि आज जन-विरोधी राजनीति, पशुबल तथा धन की शक्तियों ने संयुक्त मोर्चा बनाया है और वह राक्षस-शक्ति के रूप में अभिव्यक्ति पा रहा है। कितना अत्याचार कर रहे हैं राक्षस? बुद्धिजीवी ऋषियों की हत्याएं हो रही हैं, ताकि जनसामान्य को उचित नेतृत्व न मिल सके, प्रजा का धन लूट कर उन्होंने सोने की लंका बना ली है, नारियों का अपहरण हो रहा है... प्रत्येक युग की अपनी एक दृष्टि होती है। हमारी दृष्टि चाहे न बदले युग तो बदल ही जाता है और सम्मान केवल युग-दृष्टि का होता है।" (पृ० २४०) ज़ाहिर है परशुराम में युग-दृष्टि नहीं थी, इसलिए न केवल लक्ष्मण वरन् राम ने भी उन्हें खूब डांट पिलाई। परिणामतः राम में विश्वामित्र को ही नहीं बल्कि परशुराम को भी नई क्रांति की सुलगती चिंगारी नज़र आने लगी —

"तुमने क्षत्रिय हो कर मेरे गुरु शंकर का धनुष तोड़ दिया। चाहे वह धनुष अब काम में नहीं आता था, मात्र शोभा की वस्तु था, इससे मेरा अहं आहत हुआ था। तुमने अच्छा किया, राम! तुमने अब मेरे दम्भ को भी तोड़ दिया है। मैं भी तो अब पुराने जीर्ण शिव-धनुष के समान, पुराने युग की स्मृति, शोभा की एक वस्तु मात्र हूं। ...तुमने अच्छा किया, पुत्र! युगान्तर की घोषणा कर दी। नई क्रान्ति तुम करोगे, पुत्र! तुम समर्थ हो।" (पृ० २४१)

'वयं रक्षामः' के पश्चात् 'दीक्षा' हर प्रकार से उत्कृष्ट रचना है। इसकी अद्भुत सफलता युग-बोध के चित्रण में है, आधुनिक प्रसंगों को रामकथा से जोड़ने में है जो 'वयं रक्षामः' में कहीं नहीं। देखते हैं आगे चल कर नरेन्द्र कोहली और अन्य लेखकों के उपन्यास किस रूप में रामकथा को अभिव्यंजित करेंगे।

●

आने वाले कल के प्रश्न

—अशोक कुमार

धूप जा चुकी है
उसे जाना ही था !

तुम
अपने शब्दों से
सिन्दूरी क्षितिज को मत कुरेदो—
सारी लाली बह जाने के बाद
प्राप्त होने वाली रात में
परिरम्भण की स्थिति
कितनी विस्फोटक होगी
यह तुम नहीं जानते।

फ़िलहाल
मरने दो यह शाम
कि कल
चिताओं की राख से उगा सूरज
आज की मौत का हिसाब
बार-बार पूछेगा !

उस समय
सिर्फ़ प्रश्न होंगे
आने वाले कल के प्रश्न—
जेठ की दोपहर की तरह गर्म !

शीर्षक

—उपेन्द्र रैणा

नींद खुलते ही
पा रहा हूं
निर्धारित समय से पूर्व ही
पहुंच चुका मैं …लक्ष्य तक।
उसके आने की प्रतीक्षा है अब—
वह कोई भी हो सकता/सकती है।
मैं पहले भी कई संज्ञाएं बांट चुका हूं—
एकमात्र संज्ञा जो बची है
मेरे पास,
सौंप दूंगा वह उसको,
जो सभी अतिथियों के बीच
मुझे अपने कपड़े उतारने के लिए विवश कर
प्रयत्न करेगा/करेगी भागने का।
सम्भवत:
उतार देगा/देगी वह भी अपने कपड़े—
उस समय का वातावरण कितना
हास्यास्पद लगेगा

और मैं उसके पूरे नंगे शरीर पर
पाऊंगा चिपका हुआ
एक ऐसा शीर्षक,
जो बिल्कुल भिन्न होगा
मेरी उस संज्ञा से
जो
मैंने उसे दी होगी
कुछ क्षण पहले।

यह सब कुछ होने से पूर्व ही
अप्रत्याशित रूप में
मैं अपने आप को घोषित करूंगा
"प्रथम पुरुष"
ताकि वह विवश हो
अपने आपको
'अन्य पुरुष' मान ले!

●

डोगरा-पहाड़ी लोक गाथाएं
एक अध्ययन

—डॉ० प्रियतमकृष्ण कौल

डोगरा शब्द का अर्थ आज द्विगर्त (मानसर-सरुंइसर) के क्षेत्र तक ही सीमित न रह कर कुछ अधिक व्यापक हो गया है। यह शब्द आज जम्मू के पश्चिम में राजौरी से लेकर पूर्व में स्थित कांगड़ा (हिमाचल) तक के समस्त शिवालिक पहाड़ियों के क्षेत्र की समस्त साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा जातिगत विशेषताओं को अभिव्यक्त करता है।

प्रस्तुत लेख में 'पहाड़ी' शब्द डुग्गर प्रदेश से संलग्न, उसके उत्तर और पूर्वोत्तर में स्थित पर्वतीय अंचल को ही अभिव्यक्त करता है।

इन दोनों क्षेत्रों के लोक जीवन और लोक संस्कृति में बहुत से सांझे तत्त्वों की विद्यमानता इस ओर स्पष्ट इशारा करती है कि इन दोनों क्षेत्रों से सम्बन्धित लोक साहित्य में भी बहुत सी ऐसी समानताएं ढूंढने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए जो दोनों के आपसी घनिष्ठ सम्बन्धों को सुस्पष्ट करने में सक्षम हैं।

हिन्दी शब्दकोश के सम्पादकों के विचार में "गाथा" किसी अवैदिक स्तोत्र, कथा अथवा छन्दोबद्ध रचना का नाम है। जो कुछ वैदिक नहीं वह निश्चय ही लौकिक अथवा मानवीय होगा। गाथा के साथ लोक

शब्द जुड़ जाने से उन में लौकिकता का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार लोकगाथाएं लौकिकता अथवा लोक तत्त्व से युक्त रचनाएं हैं। लोक तत्त्व एक सार्वभौम सत्ता है और यह आदिम प्रकृति का परिचायक है। इसे हम आदिम प्रकृति के अतिरिक्त लोकमानव की अविकसित अहं चेतना अथवा आभिजात्य संस्कारों के प्रभाव से विहीन आदिम चेतना भी कह सकते हैं। लोक गाथाएं लोक मानस की वह शाब्दिक अभिव्यक्तियां हैं, जिन में इसी सार्वभौम लोक तत्त्व के अवशेष स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं।

लोक गाथाओं से सम्बन्धित सैद्धान्तिक विवेचन में विभिन्न विद्वानों ने उनकी विशेषताएं बताते हुए कहा है कि उन में गीतात्मक कथा प्रणाली का होना, कथा की मौखिक परम्परा, रचनाकार का अज्ञात होना, सहज स्वाभाविकता और लोक मानस का सहज सौन्दर्य, प्रेम, तथा मंगल कामना से उद्भूत एक बरबस आकर्षण होता है। साथ ही उन में मूल पाठ में क्रमशः परिवर्तन, संगीत तत्त्व की विद्यमानता, स्थान विशेष की रंगत का समावेश, उपदेशात्मक प्रवृत्ति और लेखक के व्यक्तित्व की छाप का अभाव, टेक अथवा विभिन्न बोलों को गाते समय पुनरावृत्ति भी रहती है। लोक तत्त्व से युक्त किसी भी कृति के सम्यक अध्ययन हेतु, अध्ययन-कर्ता को अन्तर्मुखी लोक मानस की खोज, करके उसके अहं, परमअहं और प्रवृत्तियों और भावनाओं के विकास की प्रक्रिया को ढूंढना, तथा लोक मानस के अवशेषों के रूप में विद्यमान उसके सहज सौंदर्य, प्रेम, मंगल कामना और शाब्दिक अभिव्यक्ति की विशेषताओं की परख करना अपेक्षित होता है। अतः स्पष्ट है कि किसी भी अवैदिक स्तोत्र में उपलब्ध उपर्युक्त विषय अथवा स्वरूपगत विशेषताएं लोक तत्त्व के उन अवशेषों के परिणाम स्वरूप ही हो सकती हैं। जिनके कारण हम, उस कृति को लोक गाथा कहते हैं। डोगरा पहाड़ी लोक गाथाओं का मूल्यांकन करते समय हमें इन विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा। विषय से सम्बन्धित क्षेत्र की लोक गाथाओं में यह सभी विशेषताएं देखने को मिलती हैं।

डोगरा पहाड़ी लोक गाथाओं के जो रूप हमें देखने को मिलते हैं उन में 'कारकां', 'वारां', और 'एंज़लियां' मुख्य हैं। एंज़लियों का प्रचलन अधिकतर पहाड़ों में है जब कि कारकें और वारें डोगरा क्षेत्र में

उपलब्ध होती हैं। लोकगाथाओं के इन सभी रूपों में बहुत से सांझे तत्त्व विद्यमान हैं।

एंजलियां पहाड़ी लोक जीवन की धार्मिक भावना युक्त लोक गाथाएं की अथवा गीत हैं। एंज़ली शब्द हिन्दी अंजुली शब्द का ही विकृत रूप है। हिन्दी तथा अन्य भाषाओं की 'ज' ध्वनि का पहाड़ी में 'ज़' ध्वनि में परिवर्तित हुआ रूप मिलता है। अतः अंजुली शब्द पहले अजली और फिर एंजली में परिणत हुआ प्रतीत होता है।

एंज़लियां पर्वतीय लोकधर्म की गेय अभिव्यक्तियां हैं। ये लोकधर्म की उपर्युक्त भावना से ही युक्त हैं। उस में वर्णित विषय अनेक हैं और वह प्रतीकात्मक रूप से मानवेत्तर शक्तियों के प्रति लोकमानस की भक्तिभावपूर्ण समर्पित अंजलियां हैं।

आदिमानव के मन में, सृष्टि के अस्पष्ट कार्य-व्यापारों को देख कर अवश्य शंका और भय का प्रादुर्भाव हुआ होगा। अविवेक और असमर्थता से उत्पन्न हीनता की भावना ने ही उसे समर्पण की ओर प्रेरित किया होगा और इस प्रकार, इस शंका और भय से उत्पन्न विभिन्न लोक विश्वासों और प्रथाओं, और प्रकृति सहचरी के प्रति उसके समर्पण से ही उसके लोक-धर्म और लोक-जीवन की रचना हुई होगी। लोक-मानस की यह भीरुता और समर्पण की भावना उस के लोक-धर्म के विभिन्न तत्त्वों-यथा लोक-विश्वास विभिन्न लोक-देवों की परिकल्पना, भिन्न-भिन्न प्रथाओं तथा रीतिरिवाजों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

एंज़लियों में पर्वतीय लोकमानस ने विभिन्न देवों का स्तवन तथा वर्णन लोक-देवों के रूप में ही किया है। शंकर एंज़लियों में शामी (शमन करने वाले), घूड़ू (धूल लगाने वाले), भोले (सरल स्वभाव वाले) नाम से वर्णित हुए हैं। वे गद्दियों के अपने देवता हैं। और इसी कारण इन लोगों द्वारा शिव सम्बन्धी एंज़लियां बड़े प्रेम से गाई जाती हैं। 'गोरां' शक्ति-रूप है, वह पहाड़ों में ही पली है और पहाड़ों में ही उसका विवाह पर्वतवासी शिव से हुआ है। पहाड़ी लोकमानस में सर्वाधिक व्याप्त लोक-देव शिव के यह सभी रूप उनके अपने लोक-जीवन से पूर्ण मेल खाते हैं और उनका यही भावात्मक नैकट्य और स्वभाव की सरलता उनके लोक-धर्म तथा लोक-देवों के प्रति उनकी आस्था

का आधार है। पर्वतीय एंजलियों में नागपूजा का भी वर्णन है, जो समस्त भारत के लोक-धर्म का एक अनिवार्य तत्त्व है। इसके अतिरिक्त कई क्षेत्रीय परिकल्पित लोक-देवों तथा लोक-देवियों यथा, चांदरबाली देवी, महापत्तम देव इत्यादि— के प्रति आत्म निवेदन भी पहाड़ी लोक-धर्म की विशेषता है।

एंजलियों के वर्ण्य विषयों में लोक-देवों की स्तुतियों के अतिरिक्त वीरपुरुषों के यशोगान भी उपलब्ध होते हैं। (इस प्रकार अन्य प्रकार की लोक-गाथाओं से उनके भेदक लक्षण कुछ ढीले पड़ जाते हैं)

डोगरी लोक-गीतों के संकलनकर्ताओं ने 'वारां' को वीर पुरुषों से सम्बन्धित लम्बी कविताएं, जो उत्साहवर्द्धक तथा स्फूर्तिदायक हों कहा है। पर डोगरी वीर-गाथाओं की एक अन्य विशेषता यह भी है कि उनमें लोक तत्त्व की विद्यमानता के साथ ही साथ सम्बन्धित ऐतिहासिक अंशों का समावेश, करने के साथ देश-काल का भी ध्यान रखा गया है। इस के साथ ही इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि डोगरी वारों में देश-काल और इतिहास को अभिव्यक्त करने वाले यह तत्त्व किसी अवस्था विशेष की अभिव्यक्ति नहीं करते, (जो किसी भी शिष्ट साहित्य की विशेषता होती है) अपितु वह उस साधारणीकृत रूप में ही प्रस्तुत हुए हैं जो किसी भी लोक-साहित्य की विशेषता होते हैं।

आत्मरक्षा और सहज विकास प्रत्येक जीव की सहज वृत्तियां हैं और वह प्रत्येक वस्तु जो लोक मानस की इस स्वाभाविक परिक्रिया में सहायक बनती है उसके प्रति लोक मानस का झुकाव भी स्वाभाविक ही है। वीर पुरुषों का यशोगान भी लोक मानस को उत्साहित कर अप्रत्यक्ष रूप से उसे अपने जीवन संघर्ष में नई स्फूर्ति प्रदान करता है और उसके आत्म-रक्षा के भाव को पुष्ट करता है। अतः वारों अथवा डोगरी वीरगाथाओं के प्रति लोकमानस की श्रद्धा और भक्ति का कारण भी इसी आत्मरक्षा की सहज मानवीय प्रकृति के अनुकूल है। वारों के प्रति पहाड़ी लोक-मानस की इसी श्रद्धा और भक्ति के कारण ही कई बार वारों को धार्मिक अवसरों पर गाने का प्रचलन भी डोगरा,पहाड़ी प्रदेश में पाया जाता है।

देवों, सन्तों अथवा कीर्तिमय व्यक्तियों की प्रशस्तियों से सम्बन्धित लोकगीत डोगरा-पहाड़ी क्षेत्र में कारक नाम से जाने जाते हैं।

शंका और भय के अतिरिक्त लोकमानस के आत्मसमर्पण का एक

आधार और भी हो सकता है, और वह है श्रद्धा। श्रद्धा का जन्म किसी सुकृत, उपकार, सदाचार अथवा विशिष्ट आचार के कारण हो सकता है। सन्तों और कीर्तिमय व्यक्तियों के प्रति लोकमानस की इस श्रद्धा का आधार भी इन सन्तों द्वारा किए गए सुकृत ही हैं जो उनकी सहज मानवीय मंगल कामना को अभिव्यक्त और परितृप्त करते हैं। श्रद्धा भक्ति को जन्म देती है और भक्ति से समर्पण की भावना परिपुष्ट होती है, अतः डोगरी कारकों की व्युत्पत्ति का प्रेरणा-स्रोत एंज़लियों में समाविष्ट पर्वतीय लोकमानस की श्रद्धा-भक्ति जन्य समर्पण भावना का ही प्रतीक है।

डोगरी कारकें प्रायः डोगरा-पहाड़ी प्रदेश के किन्हीं कीर्तिमय पुरुषों (यथा दाता रणपत, बावा जित्तो) तथा सन्तों से सम्बन्धित हैं। इन आदर्श पुरुषों के जीवन वृत्तों और सुकृतों की गाथाओं को अनेक धार्मिक अवसरों पर गाने का प्रचलन है और इन सन्तों से सम्बन्धित देवालयों और देहरियों के प्रति श्रद्धा डोगरा-पहाड़ी लोक-धर्म का अभिन्न अंग है। कारकों को मेलों और यात्राओं पर भी गाने का विधान है।

ऐसा नहीं कि कारकों की विषय वस्तु केवल लोक पुरुषों तक ही सीमित है। उन में राम और कृष्ण सरीखे प्रतिपादित देवों के पौराणिक आख्यानों के अंश भी अधिक लोक रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

अनेक पहाड़ी एंज़लियों की विषय वस्तु भी कीर्तिमय पौराणिक महापुरुषों से ही सम्बन्धित है। महाकाव्यों में पर्वतीय लोगों ने अपने ही लोक जीवन का रूप देखा होगा। पांडव वनों में ही घूमे थे, उनका महाप्रयाण भी हिमालय में ही हुआ था, राम और सीता भी वनों में विचरे थे, शिव का विवाह भी पर्वत पुत्री से ही हुआ था। डुग्गर तथा पहाड़ के पर्वतों में न जाने कितनी पार्वतियां अपने शिवों से ब्याही जाती रही होंगी, न जाने कितनी सीताएं इस दुर्गम प्रदेश में रावणों द्वारा छली जाकर प्रिय के बियोग में तड़पती रही होंगी और न जाने कितने गडरियों ने पांडवों के रूप में महापंथ धार की चढ़ाइयों और उतराइयों में हिम की ठण्डक में जम कर अपने प्राणों का महाप्रयाण किया होगा। अतः उनके अपने जीवन से सम्बन्धित इन विषयों की लोक-देव स्तवन के रूप में अभिव्यक्ति के प्रति श्रद्धा और भक्ति का होना स्वाभाविक था; और इसी कारण उपर्युक्त आख्यानों के विभिन्न तत्त्व पर्वतीय लोकमानस में

सहज रूप से समाबिष्ट हो कर कारकों के रूप में अभिव्यक्त हुए।

पर्वतीय एंज़लियों और कारकों में राम-कृष्ण सरीखे प्रतिपादित देवों की स्तुतियों का समावेश एक अन्य कारणबश भी हो सकता है। "मनीषियों का बिचार है कि रामायण और महाभारत में अन्तर्भुक्त अनेक उपाख्यान पहले मौखिक रूप में ही प्रचलित थे।" कालान्तर में आदि कवियों ने इन्हीं मौखिक गाथाओं के आधार पर महाकाव्यों की रचना की होगी। बहुत सी एंज़लियों में वर्णित भौगोलिकता पर्वतों से ही सम्बन्धित है और उन में पांडवों और रामादि से सम्बन्धित कथांश भी आदिम प्रकृति के अधिक समीप ठहरते हैं। एक एंज़लि में कुन्ती अर्जुन को मास-भक्षण की इच्छा के वशीभूत हो कर गेंडे का शिकार करने को प्रेरित करती वर्णित की गई है। यथा :—

बरसा त होइयां मेरे पाडम समोरे
बरसा होइयां मास खोरे हो। इत्यादि......

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि डोगरा-पहाड़ी लोक गाथाओं के विभिन्न रूपों को विभाजित करने वाली रेखाएं नए सन्दर्भों की दृष्टि से अधिक तर्कसंगत नहीं। इसके उलट इन लोक गाथाओं में बहुत से समान तत्त्वों और भावात्मक ऐक्य के दर्शन होते हैं।

डोगरा-पहाड़ी लोक गाथाओं में डोगरी तथा पहाड़ी दोनों बोलियों का सुन्दर समावेश देखने को मिलता है। लोक गाथाओं का प्रत्येक बोल गाते समय दो बार दोहराया जाता है। इसके अतिरिक्त इन लोक गाथाओं में, विषय तथा स्वरूपगत अन्य सभी सैद्धांतिक विशेषताएं भी उपलब्ध हो जाती हैं।

इस प्रकार डोगरा-पहाड़ी लोक गाथाओं में विभिन्न आधारभूत मूल प्रेरक प्रवृत्तियों के समान रूप से दर्शन होते हैं।

●

आधुनिक थाई साहित्य-परिवर्तन की प्रक्रिया

प्रो० कुलदीप चन्द अग्निहोत्री

आधुनिकता से अभिप्राय : संदर्भ थाई साहित्य का :-

आधुनिकता को व्याख्यायित करने के लिये थाई देश में समुदाय (गिरोह नहीं) व विद्वानों के समूह जुटे हुये हैं और सभी अपने अपने निष्कर्ष को सर्वोच्च स्वर में घोषित कर रहे हैं।

इन सभी विद्वानों व उनके निष्कर्षों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) मार्क्सवादी—समाजवादी विद्वान

(ख) अन्य विद्वान

(क) मार्क्सवादी—समाजवादी विद्वान— इन विद्वानों के अनुसार १९५७ से पहले का लिखा समस्त थाई साहित्य पूंजीपतियों का प्रतिनिधित्व करने वाला एवं प्रतिक्रियावादी प्रकृति का है। इन विद्वानों का विचार है कि इससे पहले का लिखा साहित्य मुट्ठी भर लोगों का साहित्य है जिसे पूंजीवादी व्यवस्था के साथ ही जला देना चाहिये। सन् १९५७ में तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने स्वतन्त्र लेखन व चिन्तन को पूर्णतया दबा दिया था व वामपंथी लेखकों, पत्रकारों, साहित्यकारों एवं बुद्धिजीवियों को जेल के सींखचों के अन्दर बन्द कर दिया था लेकिन बाद में ये सभी लोग

विशेष कर सित्, भूमिसात् एवं सुवात् वीरादिलोक अत्यन्त लोकप्रिय, सम्मानित एवं अन्यों के लिये प्रेरणास्रोत बने।

(ख) अन्य विद्वान : अन्य विद्वानों में भी थाई साहित्य में आधुनिकता के आगमन पर सहमति नहीं है।

१. कुछ विद्वान राजा मोंगकुत राम चतुर्थ के युग (१८५७) को थाई साहित्य में आधुनिक युग का प्रारम्भ काल मानते हैं। उनके मतानुसार राम चतुर्थ ही थाई देश में पश्चिमी रीति नीति को लाने वाले एवं उसके पोषक थे जिसका प्रभाव थाई साहित्य पर भी पड़ा। इसी युग में आधुनिक शिक्षा, मुद्रण तकनीक, प्रकाशन एवं पत्रकारिता का सूत्रपात हुआ। इन सब ने थाई साहित्यकारों को नयी चिंतन दृष्टि एवं एक नया विस्तृत आयाम प्रदान किया।

२. कुछ दूसरे विद्वान थाई इतिहास में तो राम चतुर्थ की महत्ता स्वीकारते हैं, परन्तु इसे थाई साहित्य में आधुनिकता का युग मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में राम चतुर्थ के राज्य में थाई साहित्यकारों को नई दृष्टि एवं आधुनिक चिन्तन की प्राप्ति तो हुई परन्तु थाई साहित्य में उसका प्रतिफलन राम पंचम चुललोंगकोरन् के राज्यकाल से ही (१८६८–१९१०) माना जाना चाहिये। राम पंचम को सही अर्थों में आधुनिक स्याम का पिता, कहा जा सकता है। उसके राज्य काल में पश्चिमी सभ्यता को राजपरिवार की ओर से प्रोत्साहित किया गया। उस युग के थाई साहित्य में शैली, संरचना, कथानक, भाषा, रूप आदि की दृष्टि से युगान्तरकारी परिवर्तन हुये।

३. विद्वानों का तीसरा समुदाय किसी राजा विशेष के राज्य काल को साहित्य में आधुनिकता का काल निर्धारित करने के लिए आधार बनाने को प्रस्तुत नहीं है। उनके अनुसार अमेरिकन ईसाई मिशनरियों के स्याम में आगमन से ही (सन् १८३५) थाई साहित्य का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। वैसे इतना तो मानना पड़ेगा कि सन् १८३५ से ही थाई देश में मुद्रण व प्रकाशन की शुरुआत होती है।

४. कुछ प्रगतिशील थाई विद्वान १९३२ की क्रांति से ही थाई साहित्य में आधुनिकता स्वीकार करने के हामी हैं। उनके अनुसार थाईलैंड में वास्तविक अर्थों में स्वतन्त्र चिन्तन व लेखन का प्रारम्भ इस

क्रान्ति के बाद हुआ है।

सारतः थाई साहित्य में आधुनिक युग को किसी तिथि विशेष से नहीं पकड़ा जा सकता। (वास्तव में यह किसी भी भाषा के साहित्य में संभव नहीं है) 'आधुनिकता' काल सापेक्ष है। जो कृति आज अति आधुनिक व प्रगतिवादी करार दी जाती है वह आने वाले युग में 'क्लासीकल' बन जाती हैं। उदाहरणतः उपन्यासकार, एम० सी०, अकाकदामकियांग और भुवाकुंजर जो अपने युग (सन् १६२०) में आधुनिक एवं अतिक्रान्तिकारी माने जाते थे आज प्रतिक्रियावादियों की पंक्ति में सब से आगे माने गये हैं। 'थाईवान्' की स्थिति इससे भी दयनीय है। अपने युग में उसे 'युगप्रवर्तक' स्वीकारा गया था लेकिन आज उसे तमाम साहित्यिक गालियों के साथ गद्दार की संज्ञा दी जाती है। फिर भी ऐसा कहा जा सकता है कि राजा मोंगकुट राम चतुर्थ के राज्य काल में थाई साहित्य में आधुनिक विचारों का समावेश हो चुका था।

थाई साहित्य में जीवन मूल्य एवं उनका आधुनिकता से सम्बन्ध :

थाई जीवन मूल्य हिन्दू-संस्कृति अथवा बुद्धमत से जुड़े हुये हैं। कुछ पश्चिमी आलोचकों, जिनकी दृष्टि संकुचित, उद्देष्य विकृत एवं चिन्तन दूषित है को थाई जीवन के ये मूल्य आधुनिकता के मार्ग में बाधा मालूम पड़ते हैं। परन्तु ऐसा थाई जीवन में गहरे न पैठ पाने के कारण ही है। थाई लोगों में विदेशी विचारधारा के ग्राह्य तत्त्वों को पचा पाने की अद्भुत क्षमता है जो उनके साहित्य में भी स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है। उदाहरणतः खमेर माध्यम से राजा की संज्ञा को तो हिन्दुस्तान से ग्रहण कर लिया गया परन्तु हिन्दू राज्य नीति की देवराज की, अवधारणा को व्यवहारतः ग्रहण नहीं किया गया। पश्चिम के विपरीत यहां चर्च व राज्य में निरन्तर संघर्ष बना रहा, थाई देश में राज्य एवं बुद्धसंघ परस्पर सहयोग से चलते रहे। बुद्ध संघ का थाई जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अति व्यापक प्रभाव है। राजा भी संघ की अवहेलना साधारणतः नहीं कर सकता।

थाई साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों के बारे में एक अन्य रोचक तथ्य यह है कि जब पश्चिमी साहित्य में काम यौनाचार की स्वतन्त्रता आधुनिकता

की प्रतीक बन गई है, आधुनिक थाई साहित्यकार इसकी भरसक निन्दा करते हैं। पूर्व थाई साहित्य में काम व यौन स्वतन्त्रता, अब प्रतिक्रियावादी मानी जाने लगी है। वास्तव में यह बुद्ध मत के लोकीय धर्म का ही प्रभाव है। लगभग सभी थाई साहित्यकार, अपनी कृति के अन्त में इस बात की प्रार्थना करते हैं, कि उन को इस जीवन-मरण के चक्र से मोक्ष मिल जाये। लोकीय धर्म थाई जीवन के हर क्षेत्र, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, व्यापार आदि को प्रभावित करता है। वास्तव में वह आधुनिकता की प्रक्रिया में सहायक है अवरोधक नहीं।

आधुनिक थाई साहित्य में जब पश्चिमी प्रभाव के कारण, शैलीगत, संरचनागत, विधागत एवं भाषागत परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तब भी लोकीय धर्म का प्रभाव यथावत् बना हुआ है। कुछ आधुनिक साहित्यकारों ने बौद्ध भिक्षुओं के आचार-व्यवहार की आलोचना की है उनका उद्देश्य भी संघ का शुद्धिकरण है उसका विध्वंस नहीं। कुछ विदेशी आधुनिकों को यह देख कर घनघोर आश्चर्य होता है कि किसी हड़ताल अथवा प्रदर्शन के बाद बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराया जाता है और दोनों पक्ष एक दूसरे से अपने व्यवहार के लिए क्षमा याचना करते हैं, पश्चिमी आलोचकों द्वारा आधुनिकता के बने बनाये सांचे में यह थाई परम्परा पूरी फिट नहीं बैठती। इसमें थाई परम्परा का दोष नहीं है। प्रसिद्ध उपन्यास कार 'बोनलुआ', ने अपने उपन्यास सुरात नारी, में थाई मूल्यों को यूं परिभाषित किया है : "हमारी थाई संस्कृति में गुण भी हैं और दोष भी। ...परन्तु हमारे पास सद्‌मूल्य हैं। हम पंचशील के पालक हैं। क्या आप जानते हैं कि पंचशील के बिना मनुष्य कबीलों अथवा समूहों में नहीं रह सकते ? वे एक दूसरे को नष्ट कर देंगे। थाई लोग सदा पंचशील के मार्ग पर नहीं चल सकते परन्तु, हमने सदा इसका प्रयास किया है।' इस उपन्यास के अन्त में अपने प्यार का बलिदान दे देते हैं।

१९३२ की क्रांति के बाद राजनीतिज्ञों ने थाई मूल्यों को अपने राजनैतिक हितों की खातिर तोड़-मरोड़ कर प्रचारित किया है। इस में नैतिक पतन तो हुआ ही है, नई पीढ़ी का इन मूल्यों पर से विश्वास भी उठता दिखाई देता है। सामान्य जन स्थाई शान्ति की कामना करता है। वामपंथियों को यह अवसर स्वर्णिम दिखाई देता है। अराजकता की

ऐसी स्थिति में बुद्ध संघ व राजा की संस्था ही सामान्य जन की आशा के केन्द्र हैं और यह बात आधुनिक थाई साहित्य में स्पष्ट झलकती है।

आधुनिक थाई साहित्य में मील स्तम्भ-उपन्यास सि फीयेन दिन

श्री एम० आर कुकरिट प्रयोज के उपन्यास सि फीयेन दिन को आधुनिक थाई साहित्य में मील पत्थर माना जाता है। हिन्दी में जो स्थान 'गोदान' का है थाई में वही स्थान 'सि फीयेन दिन' का है। इस उपन्यास में थाई मूल्यों में परिवर्तन की प्रक्रिया को अत्यन्त ही खूबसूरती से चित्रित किया गया है।

विवेच्य उपन्यास में बुद्ध सम्बत् २४३५ से २४८९ तक के ५४ वर्ष के समय को समेटा गया है। उपन्यास के प्रारम्भ में इसकी नायिका फलोई की आयु दस वर्ष की है और अन्त में उपन्यास के अन्त के साथ ही ६४ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु होती है। उपन्यास के प्रथम भाग का राजा चुलालोंगकोरन राम पंचम के अन्तिम अठारह वर्षों से सम्बन्वित है। फिलोई शाही महल में पली है अतः उसके लिये सर्वत्र सुख, शांति व सुविधा विराजमान है। बचपन से ही उसमें राजा के प्रति निष्ठा व कृतज्ञता के भाव विद्यमान हैं। सारी आयु फिलोई अपने परिवार व सम्बन्धियों को इन्हीं मूल्यों के अनुसार शिक्षित करती रही। बुद्ध की शिक्षाएं भी उसके जीवन का आधार बनती हैं। जब भी जीवन में उसे कहीं निराशा दिखाई देती है वह शक्ति के लिये बुद्ध की ओर देखती है। 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि' उसका जीवनाधार है। फिलोई में दयालुता, क्षमा, दानशीलता, सहनशीलता, न्यायबुद्धि आदि सभी गुण कूट-कूट कर भरे हैं। अतः उसे उपन्यास का आदर्श पात्र कहा जा सकता है।

उपन्यास के प्रथम भाग में राजा चुलालोंगकोरन को एक ओर तो प्राचीन शाही परम्पराओं का संरक्षक चित्रित किया गया है दूसरी ओर उसे स्याम को पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण की ओर ले जाने वाला बताया गया है।

द्वितीय काल—राजा वाजीराबुद्ध राम षष्टम् :—

छुलालोंगकोरन की मृत्यु के उपरान्त राम षष्टम् सिंहासनारूढ़ हुआ।

फिलोई दोनों में निम्न प्रकार अन्तर करती है। "पहले राजा के साथ मैं माता-पिता की छत्रछाया में बच्ची के समान अनुभव करती थी...... नये राजा की विद्या एवं बुद्धिमत्ता का मैं सम्मान करती हूं। राष्ट्र व परिवार के प्रति मेरा समस्त प्यार उसके इर्द-गिर्द केन्द्रित है। उसके लिये मैं प्राण न्योछावर कर सकती हूं।...सारतः वर्तमान नरेश कोई साधारण मनुष्य नहीं है जिसके प्रति केवल एक भाव रखा जा सके।

नये राजा के राज्यकाल में मूल्यों में नये परिवर्तन हुये। दरबार में फैशन, विलासिता इत्यादि का बोलबाला बढ़ा। राजा स्वयं इसे प्रोत्साहन देता था। नया फैशन, जीने का ढंग, आदतें, पोशाक, भोजन इत्यादि का दरबार से साधारण जनता में प्रचलन होता था। लोग इसे आलोचना की दृष्टि से नहीं बल्कि प्रशंसात्मक लहज़े से अपनाते थे। यह पश्चिमी सभ्यता एवं उदारवाद के प्रारम्भ का युग था। शिक्षा नीति में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर हुये। दरबारी व शाही परिवार के बच्चे पश्चिमी देशों में पढ़ने भेजे गये। जिसके प्रभाव से अनेक सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तनों को सहायता मिली। फिलोई के पुत्र, जो पहले इंगलैंड में तथा बाद में फ्रांस में पढ़ता था, द्वारा लिखे गये पत्रों से भी नवयुवकों पर पश्चिमी विचारधारा के सशक्त प्रभाव का पता चलता है। वह अपने पत्रों में पश्चिम के उदारवाद की प्रशंसा व थाई राजतंत्र की निन्दा करता है। इसीलिये जब वह १९३२ की क्रान्ति में भाग लेता है तो रत्ती भर भी आश्चर्य नहीं होता। यही १९३२ की क्रान्ति की पूर्व पीठिका समझनी चाहिये। एक पत्र में वह लिखता है, "पश्चिमी देश व वहां के लोग हमसे कहीं अधिक सभ्य व सुसंस्कृत हैं। यह अन्तर धरती और आकाश का अन्तर है। मेरी समझ में उनकी त्वरित प्रगति का रहस्य लोगों को सरकार में हिस्सा लेने की अनुमति देना है। फ्रांस में लोग अपने देश की समस्याओं में अत्यधिक रुचि लेते हैं... विद्यार्थी सारा दिन उनकी चर्चा करते रहते हैं। यहां वे अपनी सरकार स्वयं चुनते हैं, उसकी आलोचना करते हैं और काम न करने पर उसे हटा देते हैं। मेरे पश्चिमी मित्र थाई देश की शासन पद्धति के बारे में पूछते हैं। मैं चुप रहता हूं क्योंकि हम अभी भी बहुत पिछड़े हुये हैं। उन्हें यह बताना लज्जाजनक लगता है।"

सबसे बड़ी क्रांति तो तब हुई जब फिलोई का बेटा फ्रांस से फ्रांसीसी पत्नी ले आया। इस विवाह से परिवार में मानो भूकम्प आ गया हो। परन्तु अन्ततः यह विवाह असफल हो गया और उसने थाई पत्नी ले ली। अपनी पुत्री की ओर देख कर, जो कि एक मिशनरी स्कूल की शिक्षिता थी, फिलोई को लगता कि वे दोनों अलग-अलग संसारों में रह रही हैं।

तृतीय युग—राजा प्रजादीपक राम सप्तम् :

जब क्रान्ति (१९३२) की सूचना एवं राजपरिवार को बन्दी बनाये जाने का समाचार फिलोई को मिला तो उसे लगा मानो प्रलय का क्षण आ गया हो। वास्तव में यह सही अर्थों में थाई इतिहास के एक युग का अन्त था। क्रान्ति के बाद देश में सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक क्षेत्रों में युगान्तरकारी परिवर्तन हुये। राजनैतिक अस्थिरता बढ़ी, आर्थिक तंगी के दिन आ गये। लोगों में असुरक्षा की भावना पनपने लगी और सबसे अधिक नई व पुरानी पीढ़ी के बीच की खाई और भी गहरी हो गई। जिसका प्रभाव फिलोई के परिवार पर भी पड़ा। उसके दोनों बेटे अलग-अलग राजनैतिक खेमों में पहुँच गये। जब एक सत्ता में भागीदार बनता है तो दूसरा कारा की कोठरी में बन्द है। फिलोई अवाक्, विमूढ़ व स्तब्ध है। यह कैसा परिवर्तन है कि भाई-भाई का सहायक न हो कर विरोधी है। यह समय थाई इतिहास में संक्रमण का काल है। पुराने थाई मूल्य परिवर्तन को झेल सकने में स्वयं को सक्षम बनाने हेतु जूझ रहे हैं। इतिहास के इस चौराहे पर आकर फिलोई दिशाहीन हो गई है। कल का पुण्य आज का पाप बन गया है। पुराने मूल्यों पर से आस्था हटती प्रतीत होती है। थाई जीवन की धुरी राजनीति बनती जा रही है। मूल्य मानो अपना स्थान छोड़ शून्य में खो गये हैं।

चतुर्थ युग राजा आनन्द महीदल राम अष्टम् :—

आनन्द महीदल आठ वर्ष की आयु में राज्य गद्दी पर बैठा। फिलोई के मन में उसके प्रति अपने पुत्र के समान प्यार था। उसे इस बात की चिन्ता थी कि शिशु राजा की आयु का अन्य लोग नाजायज लाभ उठा रहे हैं।

उधर फिलोई के परिवार में आन्तरिक विखण्डन और तीव्र हो गया। उसकी पुत्री पराफ़ाई अब युवती हो गई थी। वह घर से बाहर अपने युवा मित्रों के साथ जाने लगी और अति तो तब हो गई जब उसने घर वालों की अनुमति के बिना एक चीनी सीवी से विवाह करवा लिया। इस चीनी नवयुवक सीवी और स्यामी युवती पराफ़ाई के संस्कार अधिक समय तक दोनों को एक साथ न रख सके। सीवी अर्थोन्मुखी, वाणिज्य बुद्धि वाला वणिक और धन को दान्तों से पकड़ने वाला था लेकिन पराफ़ाई परम्परागत थाई युवती, अर्थ के पीछे न भागने वाली थी। सीवी ने द्वितीय विश्वयुद्ध में जापानियों का साथ देकर धन कमाया। और उसकी कृतघ्नता उस समय तो चरम सीमा को छू गई जब उसने अपनी सास फिलोई को अति महंगे दाम पर दवाई दी। सीवी और पराफ़ाई का विवाह थाई व चीनी संस्कारों, जीवन-मूल्यों की भिन्नता का द्योतक है। इसमें थाई नारी के जीवन में आधुनिकता के समावेश की कहानी निहित है। दोनों की पटरी न बैठने पर पराफ़ाई, तलाक की बात करती है और सन्तान रोकने के लिये निरोधक उपायों का प्रयोग करती है। यह सब परिवर्तित हो रहे सामाजिक मूल्यों को इंगित करता है।

राष्ट्रीय क्रान्ति के बाद थाई देश में जिन लोगों ने सत्ता संभाली उन्होंने सत्ता का दुरुपयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की खातिर किया एवं मानवीय मूल्यों का हनन किया। इससे जन साधारण में निराशा एवं हताशा की भावना उत्पन्न हुई। राजनैतिक वातावरण ने मानो थाई धरती को ग्रस लिया हो। इस चौथे युग के अन्त में फिलोई और अधिक निराश हो गई। मित्र राष्ट्रों की बमबारी से उसका घर ध्वस्त हो गया। यह पुराना महल अब ऐसे लगता था जैसे किसी बलशाली जानवर का अस्त-व्यस्त कंकाल हो। इस में अब चमगीदड़ रहते थे अथवा बूढ़े जो मौत का इन्तज़ार कर रहे थे क्योंकि समय फलांगता हुआ उनके पास से बहुत आगे निकल गया था। यह पुराना भुतहा, ध्वस्त राजमहल मृत्यु एवं प्राचीनता का प्रतीक बन गया था। काल व परिवर्तन को कोई नहीं रोक सकता। ये क्रांतियों व नृप-रिपुओं से भी अधिक बलशाली है। जिनको काल नष्ट करता है वे अन्दर-बाहर से पूर्णतया ध्वस्त हो जाते हैं।

इसके साथ ही द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त थाई समाज आर्थिक मन्दी की चपेट में आ गया। अतः लोगों में प्रत्येक क्षण को जी भर कर जी लेने की कामना का जन्म हुआ जिसने प्राचीन थाई मूल्यों के मूल पर कुठाराघात किया।

संक्रमण व अनास्था के इस युग में भी राजा आनन्द की स्वदेश वापिसी वरदान साबित हुई। थाई लोगों के सुप्त संस्कार जागृत हुये और उन्होंने फिर थाई जीवन मूल्यों की ओर आशा भरी दृष्टि से निहारा। लेकिन आनन्द के कत्ल ने तो थाई विश्वासों को डावांडोल कर के रख दिया। अनास्था के भयंकरतम क्षणों में भी वे जिस पर आस्था टिकाये रख सकते थे उसी का कत्ल थाई इतिहास में अपने प्रकार की पहली घटना थी। अब फिलोई के लिये इस जीवन में कुछ रह नहीं गया। उसके युग का अन्त हो गया था। उसी सायं जिस दिन राजा आनन्द की हत्या हुई फिलोई ने भी प्राण त्याग दिये।

श्री कुकरिट ने अपने विवेच्य उपन्यास (चार युग) में उन राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक एवं साहित्यिक परिवर्तनों का वर्णन किया है जिन्होंने १८९२ से लेकर १९४६ तक थाई देश के विभिन्न सामाजिक समुदायों के जीवन, विचारों, मूल्यों, विश्वासों व व्यवहार को प्रभावित किया है। सामान्य थाई प्राणी की भान्ति फिलोई का जीवन भी स्यामी समाज के तीन प्रमुख आधारों राजतन्त्र, बुद्ध संघ एवं परिवार से जुड़ा हुआ है। वह इनमें से किसी की भी क्षति सहन नहीं कर सकती। सारतः कहा जा सकता है कि विवेच्य उपन्यास में आधुनिक थाई समाज का सही चित्रण हुआ है और उपन्यासकार भी वह है जिसने इस समस्त प्रक्रिया में स्वयं भाग लिया है (श्री कुकरिट थाईलैंड के प्रधानमन्त्री रहे हैं)।

नारी जागरण की प्रक्रिया :

थाई समाज में हो रहे ऐतिहासिक परिवर्तनों से नारी भी अछूती नहीं बची है। उसका कार्यक्षेत्र, कार्य, चिन्तन, शैली, वेशभूषा, व्यवहार सभी में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है उसकी अपने अस्तित्व की पहचान; जिसे अनेक साहित्यकारों ने चित्रित किया है। सुप्रसिद्ध समकालीन कवयित्री 'कानलाया' की एक कविता "मैं भी प्राणी हूं" इसका अच्छा

उदाहरण है।

मैं कुसुम नहीं;
तुम जैसी ही बलशाली,
बुद्धिमान
युद्ध में समर्थ,
एक जीवन्त प्राणी हूं।

× × ×

मैं भी एक जीवन्त प्राणी हूँ।
क्योंकि
मैं देखती हूं,
दु:ख का अनुभव करती हूं।
मेरे भी आत्मा है।
मैं कुसुम नहीं,
सभी को यह बता दो,
तुम भी जान लो।

× × ×

यह जान लो
जब तुम लड़ोगे, मुझे साथ पाओगे।
गिरोगे तो तुम्हें उठा लूंगी।
जब तुम पलायन कर जाओगे;
तो झंडा लेकर मैं नेतृत्व करूंगी।

× × ×

अरे भविष्य।
तुम सिद्ध करोगे,
कि मैं ही नेता हूं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पश्चिम के राजनैतिक व वैचारिक प्रभाव ने थाई वासियों को समग्रत: प्रभावित किया है जिसका स्पष्ट प्रभाव उसके साहित्य में परिलक्षित होता है लेकिन साथ ही परिवर्तन की यह प्रक्रिया थाई जीवन के उन आधारभूत मूल्यों को स्पर्श नहीं कर सकी जिस पर थाई समाज टिका है। थाई लोगों ने अपनी परम्परागत

विशेषता के अनुसार ही अपने मूल्यों में युगानुरूप परिवर्तन करके उन्हें आधुनिक बनाया है। लेकिन वे मूल्य उनके अपने हैं, शतप्रतिशत अपने हैं। थाई साहित्य ने उन मूल्यों की रक्षा में आशातीत योगदान दिया है। आधुनिकता को ग्रहण करवे हुये भी थाई सासित्य ने अपनी मूल मिट्टी को कभी छोड़ा नहीं है तभी उसमें मिट्टी की सौंधी गन्ध बसी है।

●

नपुंसक इतिहास और मां

—अग्निशेखर

पीली मखमली ध्वजा-सी लहराकर
या आवारा गुब्बारे-सी उड़ कर
या कुंवारी धूप-सी
बिछ कर आराम से
जो पाप तुम करती हो, निश्चिन्त मन—
भुगतना मुझे पड़ता है फल
मैं पाप करार दिया जाता हूं
...अस्वीकृत छटा पांडव
इसीलिए जनमते ही मुझे
दूध की मक्खी मान
सरिताओं में बहा दिया जाता है।
गैरों के खेमों में
लाचार मुझे
जूतों के खुर चबाने पड़ते हैं
और जब नफ़रत का बिच्छू
मस्तिष्क पर—
रेंगता हुआ

चढ़ आता है :
मैं तुम्हें सुर्ख आंखों से घूरता हूँ
कि तुम खड़ी हो कर
मेरी आंखें ही फोड़ डालती हो
और अचम्भा यह
कि इतिहास तुम्हारे पास
पहुँचते-पहुंचते
हर बार
नपुंसक को जाता है।

कांपता हुआ सन्नाटा

—शक्ति शर्मा

गली सुनसान थी। निस्पन्द-सूनापन होने के कारण अजीब सा भय घिर गया था। लैम्प-पोस्ट की जर्द पीली रोशनी के घेरे से दूर जो था उसे मैंने गौर से देखा था। मेरी चाल शिथिल पड गई थी। तब लगा था, मैं देख नहीं रहा आँखों से सूंघ रहा हूँ··· वहां कुछ भी नहीं है। कई बार मुझे अपने आप पर झुंझलाहट सी होती है। आखिर मैं अन्धेरे से इतना भयभीत क्यों रहता हूँ ? क्या अन्धेरा यथार्थ नहीं है ?

एक···दो···तीन। सीढ़ियां चढ़ने के पश्चात् क्षण भर के लिए सुस्ताने खड़ा हो गया था। फिर धीरे से किवाड़ खटखटा कर अटैची दीवार के सहारे रख दी थी। बाजू काफी हल्का-सा प्रतीत हुआ था। लगा था काफी समय तक बोझा उठाए रखने के कारण जो भारीपन सिमट कर बाजू में टिक गया था, अब धीरे-धीरे बूंद-बूंद चू रहा था।

—कौन ? स्नेह दीदी का स्वर काफी धीमा-सा था। मानो नींद में बड़बड़ा रही हो।

—मैं हूँ बिट्टू। कहते समय, मुझे लगा था, मेरे चेहरे पर प्रसन्नता और रिक्तता के भाव एक साथ घुमड़ आये थे। प्रसन्नता से मेरी आंखें

खुले छाते-सी तन गई थीं और फिर अचानक पलकों पर बोझिल उदासी सिमटने लगी थी। कुछ क्षणों तक मेरे शब्द हवा में टंगे झूलते रहे थे। फिर सिटकनी खुलने का हलका-सा खटका सुनाई दिया था। स्नेह दीदी मुझे विस्मित सी निहार रही थी। वह लम्बे समय तक मुझे यूं ही निहारती रहीं और मैं जबरन मुस्कान से अपने होंठ रबड़ से खींचे खड़ा रहा था। मुझे लगा था, शायद मेरे चेहरे पर कुछ ऐसा रहा होगा, जो पहले कभी भी नहीं था। या जिसे स्नेह दीदी ने पहले कभी नहीं देखा था। आज उन्होंने 'उसे' अनायास देख लिया था तभी यूं विस्मित-सी मुझे निहार रही थीं।

नहीं शायद वह मुझे नहीं देख रही थीं। मात्र उनकी आंखें मेरे चेहरे पर टिकी थीं। ध्यान कहीं और भटक रहा होगा क्योंकि जब मैंने उनके पांव छुए थे तो वह हड़बड़ा कर पीछे की ओर सरक गई थीं।

अटैची नुक्कड़ में पड़े टेबल पर पटक कर मैं बूट के फीते खोलने बैठ गया। स्नेह दीदी चुपचाप मुझे देखती रही थीं।

—आखिरी गाड़ी से आया है क्या? उनके होंठ कांपे थे, किसी पत्ते के समान। लगा था औपचारिकता निभाने के लिए उन्होंने कुछ कहना आवश्यक समझा था तभी पूछ लिया है। मैंने 'हां' में सिर हिला दिया और उनकी ओर देखा, —देखा, वही भय और विस्मय लिये फैली आंखें जो अब तनिक बोझिल रहती हैं। उनमें रंचमात्र बदलाव नहीं। जीजा जी की मृत्यु के बाद जो सूनापन उनके चेहरे पर ठहर गया था वह भी वैसे का वैसा ही है। अगर कुछ बदला-बदला-सा लगा था तो वह उनका व्यवहार था जिसने मुझे भीतर तक कचोट दिया था—बाकी सब पहले सा था।

मैं खिड़की से बाहिर दूर जगमगाती बत्तियों को देखने लगा था बाहिर से टीन के डिब्बे की खट-खट की आवाज़ आ रही थी। खिड़की के बाहिर हाथ निकाल कर देखा, बारिश की बूंदें गति पकड़ रही थीं।

—खाना यहीं लाऊं या किचन में चलेगा। दीदी ने चाबियों का गुच्छा टेबल से उठा लिया था।

—मैंने खाना रास्ते में ही खा लिया था। सुनते ही स्नेह दीदी सिटकनी चढ़ाने लगी। मुझे छोटी निटी के पास सो जाने को कह, वे

भी लेट गई। मैं भीतर तक बुझ गया था। बाहिर से आवारा कुत्तों के रिरियाने की आवाज़ सुनाई दे रही थी और मुझे लग रहा था कि मेरे भीतर कुछ मर-सा गया है। 'कुछ' ऐसा जो मैं साथ लाया था··· किन्तु जो स्नेह दीदी के विचित्र व्यवहार के कारण दिल के मृत कोने में दुबक गया है और वहीं मर गया है। दिल के उस मृत कोने से फिर कभी भी मरे भाव नहीं निकालने होते। जब कभी भी उन भावों को निकलने का प्रयत्न करो तो एक टीस-सी उठती है और फिर उन भावों का अस्तित्व भी तो सड़ान्ध-भरा बन जाता है।

बहुत पहले, जब मैं छोटा था। जब जीजा जी मरे नहीं थे तो किसी दिन-त्योहार पर चाची मुझे स्नेह दीदी के यहां भेजा करती थी। दिन-त्योहार पर कुछ-न-कुछ भेजना चाची अपना परम कर्तव्य समझा करती थी और इसी बहाने मेरा लम्बा टूर लग जाता था। तब स्नेह दीदी मुझे 'दब्बू' कह कर पुकारती थी। मेरी नाक पकड़ कर हिला देती थी। और आज, आज वह मुझे इस नाम से नहीं पुकारती। मुझे अच्छा नहीं लगता। बड़ा अजीब, सूना-सूना-सा लग रहा था।

मुझे बचपन की एक और बात याद आ गई। तब मैं बहुत छोटा था और पास के कब्रिस्तान की ओर कभी भी रात को नहीं देखता था घरवाले मेरी इस कमज़ोरी का पूरा-पूरा लाभ उठाते। तब मुझे स्नेह दीदी पढ़ाया करती थीं और कभी मैं पढ़ने से आनाकानी करता तो कहतीं—कब्रिस्तान में छोड़ आऊंगी। वहां मौत खड़ी रहती है, खा जाएगी। तब मैं बहुत सहम जाता और पढ़ने लगता। तब मैं मौत से बहुत डरता था। आज जब भी बचपन की यह बात याद आती है तो अपने-आप पर तरस आता है। क्योंकि तब मैं नहीं जानता था कि बेकारी का हर क्षण एक छोटी सी मौत का पर्याय होता है यह मौत हमें भीतर ही भीतर धीरे-धीरे खोखला कर देती है। काटती रहती है, बहुत गहरे तक। किसी दूसरे को पता नहीं चलता। और फिर दफ़नाना या जलाना ही तो सिर्फ मौत नहीं होता।

सुबह दीदी आफिस चली गई थीं। मैं दिन भर बोर होता रहा था। किसी पत्रिका अथवा उपन्यास की खोज में जो अलमारी देखी तो एक छोटी-सी डायरी हाथ लगी थी। प्रथम पन्ने पर दीदी ने

निटी के दहेज की लम्बी-चौड़ी लिस्ट बना कर नीचे रुपयों का टोटल किया था— इक्कीस हज़ार तीन सौ बावन । मैं लम्बे समय तक डायरी का वह पन्ना देखता रहा था । लगा था, दीदी के भीतर जो भाव-बवंडर उठते हैं । वह किसी को बताती नहीं । बस अपने आप में ही उत्पन्न करती हैं और दबा देती हैं । नीचे लिखा था—

पिता जी को,

अगर मुझे कभी कुछ हो जाये तो मेरी जमा पूंजी में से यह वस्तुएं निटी को अवश्य दे देना । मेरी बहुत इच्छा है ।

—स्नेह

मुझे लगा था, हर शब्द अपने आप में जहर की एक बून्द-सा है जो मेरे भीतर असर करने लगा हो और लगा था, दीदी के भीतर के भाव केंकड़े की खुरदरी चाल से उनके मानसपटल पर रेंगते रहते हैं । जिन्होंने दीदी को अस्थिर बना दिया है । इसीलिए दीदी को अपने आप पर भी विश्वास नहीं रहा ।

'—औरत का जीवन तो उसका पति होता है न—बिट्टू ।' दीदी ने कभी कहा था । तब, जब जीजा जी जिन्दा थे । तब की स्नेह दीदी आज कहां खो गई है । मैं डायरी के पन्ने पलट रहा था । निरर्थक-फिजूल··· ।

शाम को जब दीदी आई थी तो मैंने उन्हें कुछ भी नहीं बताया था । यानी वह जो उनके बारे में पढ़ा था । या जो मैंने पहले कभी भी नहीं महसूस किया था । जो मेरे भीतर बयार-सा घुमड़ रहा था । और जो वास्तव में स्नेह दीदी का अपना था ।

चाय पी कर मैं छत पर चला गया था और देखता रहा था दूर क्षितिज में उड़ती धूल । आकाश पर फैलता अन्धेरा । टेलीविजन के एरियलों पर अटकी पतंगें । उन्हीं एरियलों के चारों ओर रखी कंटीली झाड़ियां जो बन्दरों से एरियल बचाने के लिए हैं-- शायद !' एक-दूसरे से सटी छत्तों का सिलसिला दूर तक फैला था । हरि गुमटी वाला घर राम भैया का है । जहां कपड़े टांकने की मोटी तार एक सिरे से दूसरे सिरे तक लम्बी बंधी है ।

स्नेह दीदी को राम भैया बहन कहा करते हैं । वे जीजा जी के

हैं। मित्र दीदी कहती हैं कि राम भैया मां-बाप की इकलौती सन्तान हैं। जीजा जी कभी-कभी उन्हें 'साला साहब' कह कर चिढ़ाया करते थे। तब मुझे लगता—रिश्ते बनाए नहीं जाते, पहले से बने होते हैं। इनका एहसास समय से पहले नहीं होता। या, रिश्ते एहसास का बन्धन होते हैं।

—तुम धर्म के रिश्तों पर विश्वास रखते हो— बिट्टू ! कभी स्नेह दीदी ने मुझे पूछा था। मैंने देखा था, दीदी की तनी आंखें पल भर के लिए मुंद-सी गई थीं। मानो स्वप्निल दीप्ति क्षण भर के लिए झलक दिखा कर विलुप्त हो गई हो।

—रिश्ते क्या होते हैं ?' उत्तर की जगह मैंने प्रश्न दागा था। उनकी आंखों में असमंजस को छायाएं उभर आई थीं।

—क्या होते हैं ? उन्होंने पूछा था। मुझे खुशी हुई थी। इतनी बड़ी दीदी मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाई। अब शायद मैं भी समझदार हो गया हूँ। समझदार इसलिए कि मैं भी ऐसे प्रश्न कर सकता हूँ जिनके उत्तर खोजना हर एक के बस का नहीं।

—रिश्ते, वह जो पहले हमने नहीं सोचे होते। जो अनायास बन जाते हैं। जहां दिलों में सहानुभूति के······

स्नेह दीदी खिलखिला कर हंस पड़ी थी। मानो मैंने कोई अजीब-सा कार्टून उनके सामने रख दिया हो— फिजूल की बकबक करता जा रहा है। तेरी तो एक भी बात मेरी समझ में नहीं आई।' मुझे अपने आप पर खीझ हुई थी। क्योंकि मुझे खुद भी अपनी बहुत-सी बातें समझ में नहीं आतीं।

राम भैया के मरियल शरीर पर ढीला कुर्ता हवा में फड़फड़ाता रहता है। जैसे किसी बांस पर लम्बे-चौड़े पत्ते लिपट गये हों। चेहरा शान्त, सौम्य और गम्भीर। वे बहुत कम बातें करते हैं। मगर जो एक-आध बात करते हैं वह काफी हास्यास्पद होती है।

—अंकल-अंकल ! छोटी निटी ने पतलून खींच कर मुझे भी अतीत से वर्तमान में खींच लिया। मैंने देखा, स्नेह दीदी भी न जाने कब से खड़ी मुझे गौर से देख रही थीं। वह बहुत देर तक अपलक देखती रहीं और मैं गली में खेलते बच्चों को घूरता रहा। फिर स्नेह दीदी के होंठ फड़फड़ाये थे— बिट्टू !

मैंने उनकी ओर देखा— 'जी !

—तू कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा लगता है। क्या बात है ? उन्होंने पूछा तो मैं हंसने का विफल प्रयत्न करने लगा। लगा था एकाकीपन के अन्तराल ने दीदी को बहुत बदल दिया हो।

—'नहीं, उखड़ने की कोई बात नहीं।'

'फिर क्यों मुझे अभी-अभी ऐसा लगा था। जैसे तुम पहले जैसे बिट्टू नहीं हो। उससे बहुत भिन्न हो। ऐसे•••जैसे गैर होते हैं।' मैं विस्मय से उनकी ओर देखता रहा था।

—दीदी ! मुझे अपने रुन्धे स्वर पर घृणा हो आई थी।

—'तुम्हें रात को अजीब-सा लगा होगा। है ना, तुम क्या जानो बिट्टू। अब मैं स्नेह दीदी न रह कर बोझा ढोने की एक मशीन मात्र रह गई हूँ। जो हंस-बोल नहीं सकती।' बहुत समय तक मुझे पता भी नहीं चला था कि दीदी अपने-आप में रो रही हैं। दीदी की व्यथा जो उनके भीतर थी, मुझ से सहन नहीं होती और मैं सोचने लगा था कि यदि कुछ समय के लिए दीदी दिल्ली चलें, मेरे साथ, तो शायद अपने दुख को कुछ हलका कर सकें। दुःख कम हो सकते हैं— मिट तो नहीं सकते।

—दीदी चलो ! कुछ दिनों के लिए दिल्ली चलें।' मैंने जो कहा था तो दीदी की आंखें विस्मय से फैल गई थीं। वह स्तम्भित-सी हत-प्रभ मुझे देखती रहीं। 'दिल्ली अब काफी अजीब-सी हो गई होगी।'

'क्यों ?' मैंने आश्चर्य से पूछा था।

—सुना है, लोगों के घर उजाड़ दिये गये हैं। अब वहां बाग़ बनाये जाएंगे।' मैं खामोशी से उन्हें देखता रहा था।

—कभी-कभी मुझे अजीब लगता है—बिट्टू। लगता है हमें भी कोई उजाड़ रहा हो। संगमरमर-सी सफेद उनकी बाहें हैं। उसके चेहरे पर काले धब्बे हैं। उसके हाथ रक्त से सने हैं। उसके भीतर लाल बत्तियों-सी जगमगाहट है। लगता है, कई जिन्दा नर-मुण्ड दहक रहे हों।

स्नेह दीदी के चेहरे पर घिर आई चुप्पी और दहशत को मैं देखता रहा। उन्होंने निटी को भींच लिया था।

नीचे से राम भैया झोला उठाये धीरे-धीरे घर की ओर जा रहे थे। लगता था चल नहीं रहे, घिसट रहे हों। वे पहले से काफी कमजोर हो गये थे। मुझे लगा, वह बीमार रहे होंगे। ढीला कुर्ता और भी अधिक फड़फड़ा कर आज़ाद होने का प्रयत्न कर रहा था। मुझे याद आया, राम भैया सुबह से आये नहीं। मैं दीदी से पूछता हूं। ——आज राम भैया नहीं आये।

——वह अब यहां नहीं आते। मैंने देखा था दीदी का माथा तनिक सिकुड़ गया था। उसकी आंखों में घृणा नहीं डरी-सहमी सी छटपटाहट थी।

——क्यों ? मैंने कुतूहल न दबा पाने के कारण पूछ लिया था।

——सब को उनका यहां आना खलता है। अब हमारे सम्बन्ध लोगों को अच्छे नहीं लगते। बड़ी निर्लज्ज है स्नेह दीदी।

वह अब मुझे देख नहीं रहीं। आंखों से टटोल रही थीं। परख रही थीं। अनायास उनकी पलकें भीग गई थीं—— 'औरत का जीवन उसका पति होता है न—— बिट्टू। तो फिर समाज लाशों को बदनाम करने से क्यों नहीं कतराता ? क्या हमारा अस्तित्व इतना फीका पड़ जाता है—— बिट्टू।' दीदी हांफने लगीं। मुझे लगा, उनकी छटपटाहट में भी अजीब प्रकार का विद्रोह है। जिसे वह दिखाना नहीं चाहतीं। अपने आप में पैदा करती हैं और बस वहीं पड़ा रहने देती हैं।

——जब तुम रात को आये थे तो मुझे भय लगा था। क्या पता लोग रक्त के रिश्ते को भी संदेह से देखने लगें। फिर···फिर मैं कैसे जी पाऊंगी——बिट्टू।

'दीदी' ! मेरा गला भर्रा जाता है।

अन्धेरा घिर आया था। छतों पर, दीवारों पर, गली के आसपास हर कहीं अन्धेरे के धब्बे गहरे हो चले थे। एक फीकापन था जो हमारे आस-पास था। काफी समय तक हमारे बीच केवल कांपता हुआ सन्नाटा टंगा रहा···।

●

नव गीत

—राकेश मोहन दास

बूढ़े बरगद की मृत्यु पर
बहुत रोई उसकी छांव,
बटोही भूल गये गांव।
सूर्य नयन
उघारे
देखता रहा,
व्याकुल पथिक
पीठ
सेंकता रहा।
चले भी, बहुत ही चले
किन्तु न पहुंचे अपने ठांव,
बटोही भूल गये गांव।
चांदनी किरण
नीरव
ठन्डी थी,
खोई सिकुड़ी
पड़ी
पगडण्डी थी।
राह दुर्गम थी, नहीं था ज्ञात
बढ़ते, फिसलते रहे पांव;
बटोही भूल गये गांव।

पुस्तकें और पुस्तकें

●

इधर हिन्दी के साहित्यिक मोर्चों पर एक नई विधा की चर्चा बड़े जोरों पर है। यह विधा है **"लम्बी कविता"**। वैसे तो प्रथम लम्बी कविता के प्रणयन का श्रेय सुमित्रानन्दन पन्त को है। उन्होंने अपनी पहली लम्बी कविता **"परिवर्तन"** सन् १९२३ में लिखी थी। उनके बाद प्रसाद ने **प्रलय की छाया** और निराला ने **राम की शक्तिपूजा** जैसे लम्बी कविताओं की रचना की। अभी कुछ दिन पहले डॉ० नरेन्द्र मोहन के संपादकत्व में लम्बी कविताओं का एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण संकलन **"कहीं भी खत्म कविता नहीं होती"*** शीर्षक से प्रकाश में आया है। इस संकलन में विगत १५-१६ वर्षों में प्रकाशित और चर्चित दस ऐसी लम्बी कविताएं हैं जो अपनी रचना के समय से आज तक चर्चा का विषय बनी हुई हैं। ये कविताएं ऊपरी तौर से राजनैतिक तेवर की कविताएं लगती हैं किन्तु अपनी भीतरी सतहों पर यह कविताएं मानव-मात्र की आशा-अभिलाषा, सुख-दुःख, उपलब्धि और विराग की स्थितियों का प्रामाणिक लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं। अज्ञेय की **असाध्य वीणा** से ले कर जगूड़ी की **बलदेव खटिक** तक, यह सभी कविताएं मोह-भंग की स्थितियों को उजागर करने के साथ

---

*कहीं भी खत्म कविता नहीं होती (लम्बी कविताएं)/ सम्पादक : डॉ० नरेन्द्र मोहन/प्रकाशक : सम्भावना प्रकाशन, हापुड़/ मूल्य : पैंतीस रुपये/ आकार : रायल ऑक्टेवो/पृष्ठ : २३८

समकालिक व्यक्ति की लघुतम होती हुई अस्मिता को रेखांकित करती हैं। विद्रोह के साथ समाज एवं व्यवस्था में अपेक्षित बदलाव का आह्वान इन कविताओं में इस प्रकार अन्तर्गुम्फित है कि वह आरोपित नहीं लगता और न ही सीधे से पकड़ में आता है। आदमी किस हद तक स्वार्थी हो गया है, इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है राजकमल चौधरी की कविता **मुक्ति-प्रसंग** से :—

केवल वर्तमान में जीते हैं अब समस्त प्रजाजन
मर जाते हैं अतीत में और भविष्य में मर जाते हैं।

धूमिल ने इसी तथ्य को **पटकथा** में इस प्रकार आंका है :—

सुनो !/आज मैं तुम्हें सत्य बतलाता हूँ/जिसके आगे हर सच्चाई/
छोटी है। इस दुनियां में भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क/रोटी है।

इन कविताओं के रचना-विधान की विशेषता यह है कि इनकी रचना के पीछे का वैचारिक तनाव इतना सघन होता है कि वह खण्डों में विभाजित हो कर भी अपनी अर्थवत्ता को बरकरार रखता है। मुक्तिबोध की कविता— **अन्धेरे में**—में बिम्ब और विवरण पूरे काव्यात्मक विधान को सन्तुलित किए हुए हैं। अज्ञेय की **असाध्य वीणा** बिम्ब की सार्थकता का प्रमाण प्रस्तुत करती है तथा राजकमल चौधरी की कविता **मुक्ति-प्रसंग** तनाव को केन्द्रीय बिम्ब-प्रतीक द्वारा संयमित करने का उदाहरण प्रस्तुत करती है। रघुवीर सहाय की कविता **आत्महत्या के विरुद्ध** परिस्थिति से टकराने वाले व्यक्ति की वास्तविक स्थिति को प्रत्यक्ष कर देने में सक्षम है। कुछ पंक्तियां देखिये :—

कुछ होगा/कुछ होगा/ अगर मैं बोलूंगा/ न टूटे, न टूटे तिलिस्म सत्ता का/मेरे अन्दर कायर टूटेगा/टूट मेरे मन/टूट एक बार सही तरह/
अच्छी तरह टूट।

मन का यूं टूटना इसलिए आवश्यक है कि पुराना ध्वस्त हो जाये तभी नये का निर्माण सम्भव हो पाता है।

लीलाधर जगूड़ी की कविता **बलदेव खटिक** के केन्द्र में एक ऐसा विचार है जो एक क्रूर समकालीन स्थिति को धीरे-धीरे उघाड़ता है और उसे संघर्ष-चेतना से सम्बद्ध कर देता है तो मणिमधुकर की कविता **घास का घराना** में परिदृश्य चित्रण में से ही आत्मविडम्बनापूर्ण स्थितियों को उभरते हुए दिखाया गया है।

कहीं भी खत्म कविता नहीं होती के संदर्भ में मैं केवल इतना ही और कहना चाहता हूं कि यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है और एक अनिवार्य रूप से संग्रहणीय ग्रंथ भी। क्योंकि न केवल यह कि इस में पिछले पन्द्रह-सोलह वर्षों में रची गई हिन्दी की दस सर्वश्रेष्ठ कविताएं संकलित हैं अपितु इसलिए भी कि यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद से लेकर आज तक के भारतीय मानस के विकास का प्रामाणिक इतिहास भी प्रस्तुत करती है।

●

बल्गारिया के प्रतिष्ठित उपन्यासकार इवान वाज़ोव के उपन्यास Under the yoke का हिन्दी अनुवाद "दाब के तले"* प्रकाशित करवाया है— डॉ० गंगा प्रसाद विमल ने। यह उपन्यास बल्गारियाई क्रान्ति के संघर्ष की गाथा कहता है। इसका कालखण्ड सन् १८७६ के आसपास का है और इसे लिखे कुछ ही वर्षों में १०० वर्ष पूरे हो जायेंगे। इस उपन्यास की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इसे पढ़ते हुए, अनुवादक के अनुसार, पाठक कला के जरिए इतिहास का अनुभव प्राप्त करता है। दूसरे यह उपन्यास उन परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिनके चलते कोई भी क्रान्ति असफल हो जाती है।

क्रान्तिकारी ओग्न्यानोव यातना-शिविर से भागने में सफल हो कर किसी प्रकार बचता-बचाता ब्याला चरेक्वा पहुँचता है और वहां पहुँच कर नए सिरे से लोगों को क्रान्ति के लिए उकसाता है। तुर्कों के ज़ुल्म अब पराकाष्ठा को पहुँच गए हैं। उसका संघर्ष ही वास्तव में कथा के मूल ढांचे को गति प्रदान करता है। एक के बाद एक जहां उसके हमख्याल और समानधर्मा लोग उससे जुड़ते जाते हैं वहीं दूसरी ओर व्यवस्था के पोषक और वफादार तत्त्व भी उसके विरुद्ध संगठित होने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि अन्ततः उसे ब्याला चरेक्वा से भागना पड़ता है। उसे क्लिसौरा में शरण मिलती है। किन्तु उसका दुर्भाग्य यहां भी उसका पीछा नहीं छोड़ता है। जहां भी वह जाता है लोगों पर विपत्तियों के बादल टूट पड़ते हैं। क्रान्ति के लिए निश्चित किए गए दिन तक चरेक्वा पहुँचने के उसके सभी प्रयत्न

*दाब के तले (उपन्यास)/मूल लेखक : इवान वाजोव/अनुवादक : गंगा प्रसाद विमल/प्रकाशक : समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली/मूल्य : ५० रुपये/आकार : रायल ऑक्टेवो/ पृष्ठ : ३७१

असफल रहते हैं और वह विलसौरा के क्रान्तिकारियों के साथ नैतिक रूप से बंधा होने के कारण उनके साथ अभियान का नेतृत्व करने के लिए रुक जाता है। लेकिन जैसा कि असमय किए गए विद्रोह का परिणाम होता है, उनका विद्रोह असफल रहता है। किसी तरह भाग कर, जान बचाता हुआ वह चरेक्वा पहुँचता है तो वहां अपने सहयोगी डॉ० सोकोलोव से उसकी भेंट होती है जो खुद भी फरार होने की कोशिश कर रहा होता है। वह ओग्न्यानोव को चरेक्वा के पतन का इतिहास सुनाता है। यह प्रसंग उपन्यास का सर्वाधिक मार्मिक अंश है क्योंकि यहीं हमारा उन शक्तियों से परिचय होता है जो क्षुद्र स्वार्थों और छोटी-छोटी सुविधाओं के एवज में अपने देश की गरिमा को दुश्मनों के हाथों लुट जाने देती हैं।

सोकोलोव का यह कथन कि जब तुर्की सिपाही शिकारी कुत्तों की तरह उसे तलाश कर रहे थे और जब वह किसी तरह कहीं छुप कर अपने को नये आक्रमण के लिए तैयार करने के लिए ठौर ढूंढ रह था तो एक-एक कर सभी दरवाज़े उस पर बन्द होते जा रहे थे— पाठक की पीड़ा को घनीभूत कर देता है। उपन्यास के अन्त में ओग्न्यानोव, सोकोलोव और राडा जब तुर्कों का वीरतापूर्वक सामना करते हुए बलिदान देते हैं और ओग्न्यानोव तथा सोकोलोव के सिर चरेक्वा के प्रमुख चौराहे पर लटका दिए जाते हैं तो सारी जनता उसे देखने को उत्सुक चुपचाप खड़ी रहती है किन्तु पागल मूनचो तुर्कों को ही नहीं ईश्वर को भी गालियां देने लगता है। तब तुर्क उसे भी मार कर लटका देते हैं। इस अवसर पर, इस उपन्यास की अंतिम पंक्तियों में, लेखक की पीड़ा यूं मुखरित हुई है— 'मूनचो, जड़ बुद्धि ही एकमात्र नागरिक था जिसने विरोध का दुस्साहस किया था।'

"दाब के तले" एक पठनीय उपन्यास है। कथा के साथ शिल्प के धरातल पर भी यह एक विशिष्ट दृष्टि का परिचायक है। इसकी भाषा बोलचाल की है और मुहावरों का तथा सूक्तियों का प्रयोग उसे और भी सुघड़ बनाने में सहायक प्रमाणित हुआ है। हां! प्रूफ-रीडिंग की ओर यदि थोड़ा सा भी ध्यान दिया गया होता तो पढ़ने में अधिक आनन्द आता।

—र० मे०

अंधेरे के बावजूद* बलदेव वंशी का तीसरा कविता संग्रह है। इससे पूर्व उनके दो कविता-संग्रह 'दर्शक दीर्घा से' और 'उपनगर में वापसी' प्रकाशित हो चुके हैं। अपने पूर्व प्रकाशित कविता-संग्रहों द्वारा कवि ने अपने एक निजी मुहावरे की पहचान दी थी। प्रस्तुत कविता-संग्रह की कविताएं इस पहचान को अधिक तीखा और पैना बनाने में सक्षम हैं।

यह जरूरी नहीं कि किसी कवि का अगला संग्रह उसके काव्य विकास का सूचक हो ही। अगर कोई कवि कथ्य और शिल्प की अपनी रूढ़ि बना लेता है और आदतन कुछ लिखते चले जाने की रस्म निभाता है तो यह उसके ह्रास का ही सूचक होगा। वास्तविक विकास उस रूढ़ि को काटने की उसकी शक्ति में निहित है। उदाहरण के तौर पर बलदेव वंशी के दूसरे कविता-संग्रह 'उपनगर में वापसी' की कुछ कविताओं के उद्‌बोधनात्मक रवैये की ओर संकेत करते हुए मैंने लिखा था कि इस ढंग का रवैया कविता का और बलदेव वंशी की कविता का रवैया नहीं हो सकता (देखिये **कविता की वैचारिक भूमिका,** पृ० ९६)। यह एक अच्छी बात है कि 'अन्धेरे के बावजूद' की कविताओं में कवि इस रवैये के शाब्दिक जाल से उबर सका है। अपनी स्व-निर्मित रूढ़ि को तोड़ने के लिए उस ने अपने संवेदन-वृत्त का ऐतिहासिक वृत्त में विस्तार ही नहीं किया है, उसे गहराया भी है।

कवि ने आत्म को इतिहास की संगति में रख कर देखना-जांचना चाहा है। आत्म और इतिहास का सन्निधिपूर्ण संयोजन इन कविताओं में विशेष रूप से प्रतिफलित हुआ है। आपातकाल के सर्वग्रासी अन्धेरे में सृजन को एक मूल्य की तरह ग्रहण करने वाली ये कविताएं ऐतिहासिक चेतना की टोह लेती हुई कविताएं हैं। इन में मानव विरोधी और संस्कृति विरोधी नृशंस कार्यवाहियों का भयावह सन्दर्भ मौजूद है। 'चुप्पी' कविता की ये पंक्तियां लें :

> चिरते हुए देवदार की गन्ध को
> आरे की भाषा में नहीं
> मनुष्य होने की तमीज़ में पहचानते हुए
> मैं जंगल में चुप हूँ
> सामने देवदार कटने का दृश्य है

---

*अंधेरे के बावजूद : बलदेव वंशी/साहित्य भारती, के–७१, कृष्णनगर, दिल्ली–११००५१./प्र० सं० १९७८

इस कविता में देवदार कटने का दृश्य महज एक दृश्य नहीं है, बल्कि एक सांस्कृतिक दुर्घटना की ओर संकेत है। इस से भ्रष्ट राजनीति के विरुद्ध लड़ी जा रही सांस्कृतिक लड़ाई का बोध जगता है। संग्रह की कई अन्य कविताओं में भी ['लगातार पेड़', कुछ होता। (और ही।')] 'पेड़' न केवल प्रतीक के रूप में आया है बल्कि एक जीवन्त सांस्कृतिक उपस्थिति के रूप में आया है। इन कविताओं के पीछे कवि का यह विश्वास सक्रिय रूप में विद्यमान है कि 'कला और कविता की लड़ाई भी संस्कृति की लड़ाई है (काला इतिहास पृ० ७)।

प्रश्न हो सकता है कि कवि का रवैया स्थितियों के विश्लेषण का अधिक है, उनके प्रति चुनौतीपूर्ण और विद्रोहात्मक रुख का उतना नहीं। आपात-काल के दौर में आतंकप्रद स्थितियों की विसंगतियों और विडम्बनाओं को झेलना ही शायद अधिक विश्वसनीय था जहां कवि 'आतंकित वन की चुप्पी में शुमार' था और 'केवल देखने भर की साक्षी' दे सकता था। 'चीजें' कविता इस मनःस्थिति को उजागर करती है :

अब चीजों को देखो। उन्हें
देखते देखते
एक चुप्पी ने सब को डस लिया है

यह चुप्पी इन कविताओं में स्थितियों के स्वीकार की नहीं, 'गहरे धकते इंकार' का बोध कराती है। कवि ने इस चुप्पी को ऐतिहासिक, सांस्कृतिक सन्दर्भों तक फैलाया है। बलदेव वंशी ने अपनी वर्तमान स्थिति में ऐतिहासिक पात्रों से तादात्म्य का प्रमाण कई कविताओं में दिया है :

आंखें गंवा कर कुणाल जीता है
सर्वस्व गवां कर मैं जीता हूं

भरोसे से
खोदता हुआ सुरंग
शकटार जीता है प्रतिशोध में

'कौन हैं ये लोग' कविता में कवि की चेतना में जलियांवाला बाग का संदर्भ कौंधता है :

वे लोग कौन थे
जो गोलियों से झुकाये गये। सदेह
राजतन्त्र में

इसी के समानान्तर कवि की चेतना में वर्तमान तानाशाही-व्यवस्था

का दृष्य कौंधता है :

आज भी लोग
नारे लगा रहे हैं तानाशाही के खिलाफ
गोलियों से झुकाये जा रहे हैं लगातार
लोकतन्त्र में

स्थिति से टकराता हुआ विचार ऐतिहासिक संदर्भों में कैसे अपनी संगति खोजता हुआ विकसित होता है, इसे 'पिरामिड' कविता में देखा जा सकता है। इस कविता में कहीं तल्खी नहीं है, कहीं आवेश नहीं है, कहीं भावुकता नहीं है : 'लोग काम में जुटे हैं ? बिना जाने कि वे क्या बना रहे हैं ? बिना जाने कि वे कहां जा रहे' × × × 'सिर्फ राजा जानता है/कि यह पिरामिड का नक्शा कैसा है/'होगा'/सिर्फ राजा जानता है/कि इस पिरामिड के ऊपर सिर्फ एक चेहरा होता है/'होगा'/सिर्फ राजा को खबर है/कि वह चेहरा इंसान का और धड़ शेर का है/'होगा'।" स्पष्ट है कि इस कविता की संरचना संश्लिष्ट और सघन है। इसके मुहावरे में कहीं उत्तेजना और हड़बड़ाहट नहीं है। इसमें न स्थिति का आस्फलन हुआ है और न उससे ऊपर और ऊंचा उठने वाल थोथापन है। कविता का विचार बातचीत के लहजे में बनता-उठता गया है।

—नरेन्द्र मोहन

आपकी बात

●

● शीराज़ा हिन्दी के कहानी-विशेषांक में अलंकार की कहानी 'पतंग' अच्छी लगी। अधिकतर लेखों के तेवर बासी थे। हिन्दी नाटकों के सम्बन्ध में डॉ० चन्द्रशेखर का लेख परिचयात्मक था परन्तु अहम लगा। ऐसे और लेखों की अपेक्षा है।

—वेद राही

बी–३५, सर्वोत्तम हाउसिंग सोसायटी, इरला ब्रिज, अंधेरी, बम्बई।

● शीराज़ा का कहानी-विशेषांक मिला, धन्यवाद ! इसमें डॉ० इन्द्रनाथ मदान का लेख पुराना और घिसापिटा है ; हेरफेर कर वह एक ही बात को बारबार दोहराते हैं। 'नयी हिन्दी कहानी--उपलब्धि और सम्भावनाएं' पर जो १६ पृष्ठीय विचार-गोष्ठी दी गई है वह सफल नहीं रही है। खोदा पहाड़ निकली चुहिया जैसी बात देखने को मिली ; विशेष या नये मुद्दों पर बहस नहीं हो सकी— उसने आम आदमी पर पहुँच कर दम तोड़ दिया। कहानी की 'विशेश सिचुएशन', 'विशिष्ट परिस्थितियों', 'अभिव्यक्ति का तीखापन' (डॉ० ओम प्रकाश गुप्त) का संकेत मात्र कर छोड़ दिया। 'जम्मू की हिन्दी कहानी एक सर्वेक्षण', (डॉ० अनिल गोयल) 'कथाकार हिमांशु जोशी' (डॉ० विवेकी राय) अच्छे लेख लगे। डॉ० विनय का लेख संक्षिप्त हो कर भी ज्ञानवर्द्धक है। डॉ० नरेन्द्र मोहन ने (हिन्दी कहानी : स्वतन्त्रता के बाद) पृ० ४८ पर दीप्ति खण्डेलवाल, मेहरुन्निसा

परवेज़ के नाम छोड़ दिए हैं।

कहानियां अपनी भाव-संवेदना में, सृजन-शिल्प में उत्तम रहीं। अंक सर्वथा संग्रहणीय है। बधाई स्वीकार करें.

—डॉ० निज़ामुद्दीन

इस्लामिया कालेज, श्रीनगर।

● शीराज़ा का कहानी अंक मिला— 'गेट-अप' और रचनाओं के चयन से सम्पादकीय सूझ-बूझ का पता चलता है। विभिन्न लेखों के कारण हिन्दी कहानी में यह संदर्भ-ग्रंथ के रूप में संग्रहीत करने के योग्य है। नई कहानी के लगभग सभी पहलु इसमें कहीं न कहीं, किसी न किसी कोण से लिए गए हैं किन्तु फिर भी कुछेक बातें खटकती हैं —

(क) क्या कहानी अंक में 'हिन्दी नाटक के संदर्भ में एक पड़ताल' तथा कविता देने की कोई विशेष आवश्यकता थी ? क्या आपके पास सामग्री का अभाव था ? यदि आप स्तरीयता की बात करते हैं तो मैं कहूंगा कि प्रकाशित रचनाओं की स्तरीयता के आधार पर दूसरी रचनाओं को भी लिया जा सकता था क्योंकि मैं समझता हूं कि इससे भी अच्छी रचनायें (?) आपके पास उपलब्ध हैं।

(ख) 'जम्मू की हिन्दी कहानी' की बात होती है तो इसमें 'अस्तित्व' के बोध को ही क्यों लिया गया ? यह सर्वेक्षण है—अस्तित्ववाद और जम्मू की कहानी पर संकुचित लेख नहीं।··· अच्छा होता लेख का शीर्षक अस्तित्ववाद से सम्बन्धित होता। मज़े की बात तो यह है कि अधिकांश जम्मू की रचनाओं को इसमें स्थान नहीं मिला—जो चर्चा का विषय रही हैं।

फिर भी स्तुत्य प्रयास के लिए बधाई।

—अशोक जेरथ

हिन्दी प्रवक्ता, राजकीय कालेज, ऊधमपुर (ज० क०)

● सबसे पहले तो ऐसा गंभीर-पठनीय, विशेषांक प्रकाशित करने के लिए आपको बधाई दे दूं। इस विशेषांक में प्रकाशित कहानियों ने जितना ही निराश किया निबन्धों और परिचर्चाओं ने उतना ही आश्वस्त। 'नई हिन्दी कहानी— उपलब्धि और सम्भावनाएं' और 'आवश्यकता है कहानी का असली चेहरा तलाशने की'— दोनों ही परिचर्चाओं के माध्यम से आज की संपूर्ण कहानी, उसकी उपलब्धियों और सीमाओं की सुसंगत और सविस्तार विवेचना हो गई है। प्रस्तुत विशेषांक समकालीन कहानी

पर एक तलख और विचारोत्तेजक बहस की विस्तृत भूमिका तैयार करने में सफल रहा है। अगर इस अंक में प्रकाशित कहानियां भी तेज़-तर्रार रहतीं तो सोने में सुहागा···फिर भी बधाई !

—जवाहर सिंह

राजकीय डी० एम० कालेज, इम्फाल।

● शीराज़ा का कहानी विशेषांक मिला। धन्यवाद। इसमें कहानियां कम, लेख अधिक थे। सब से रोचक विचार-गोष्ठी के लिए बधाई। कहानियों में 'बनवास' और 'बंगला न० १०' खासी प्रभावपूर्ण लगीं।... डॉ० विनय और डॉ० मदान के लेख रस्म-अदायगी करते से लगे।... विचार-गोष्ठी सचमुच बहुत रोचक और सफल प्रतीत हुई। प्रश्न उठा था—साहित्य विशेष व्यक्ति के लिए या आम आदमी के लिए ?... सीधी बात है कि साहित्य में आपकी अभिव्यक्ति विशेष होने पर भी समवेदना के स्तर पर आम और व्यापक हो जाती है।···साहित्य-सृजन न पोस्टर लिखना है और न नारेबाज़ी ही है।···हमें लाज़िम है कि हम समान्तर, सचेतन या ऐसे ही किसी नाम को उछाले बगैर ऐसे नारों और खेमों के शिकार महत्त्वाकांक्षी पर ईमानदार साहित्यकारों को कभी हेय न समझें क्योंकि पारखी अन्त में पाठक ही है। एक काउण्टर-गोष्ठी आयोजित करना चाहता था किन्तु समयाभाव के कारण ऐसा सम्भव न हो सका।

—महाराज कृष्ण शाह

देना बैंक, अमीरा कदल, श्रीनगर।

● शीराज़ा का कहानी विशेषांक मिला। कहानी विशेषांकों की परम्परा में यह सराहनीय प्रयास है। बधाई।

—हिमांशु जोशी

ए—२/१८२, सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली।

● शीराज़ा का कहानी विशेषांक मिला। शीतावकाश में हम कश्मीरी अधिकाधिक पाठ्य-सामग्री चाहते हैं, सो एक उत्तम भेंट यथासमय मिली। धन्यवाद ! ···सामग्री बड़ी रोचक और स्तरीय है।

—चमन लाल सप्रू

राजकीय महिला कालेज, नवाकदल, श्रीनगर।

● 'अपनी बात' बड़ी सार्थक लगी।···अलंकार और गोस्वामी की कहानियों का शिल्प खटकने वाला लगा। राजेन्द्र अवस्थी की कहानी

कथा एवं शिल्प—— दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण लगी लेख कोई उपयोगी भूमिका निभाने में असफल रहे हैं। परिचर्चाएं व्यर्थ लगीं। क्योंकि इन से कोई मसला हल नहीं हो सकता। •••मोहन निराश की एक लम्बे समय बाद अच्छी कविता पढ़ने को मिली। धन्यवाद !

—राकेश मोहन दास
१७५, पक्की ढक्की, जम्मू।

● कुशल सम्पादकीय नेतृत्व तथा अपने ज्ञानवर्द्धक कलेवर से पत्रिका दिनोंदिन उच्च-स्तर को प्राप्त हो रही है।

—अग्निशेखर
संग्रामपुरा, सोपुर (कश्मीर)

●

अकादमी डायरी

● २० से २५ जनवरी १९७९ तक स्थानीय अभिनव थियेटर में, अकादमी के तत्वावधान में, एक नाट्य-स्पर्धा का आयोजन किया गया जिस में जम्मू की छः रंगकर्मी संस्थाओं ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। इन रंगकर्मी संस्थाओं द्वारा प्रदर्शित नाटकों का विवरण इस प्रकार है :—

	संस्था	नाटक	लेखक
१.	तवी मंच	आशीर्वाद	सुखदेव सिंह चाड़क
२.	दादा फालके क्लब	अंडर सेक्रेटरी	रमेश मेहता
३.	आल जे० एण्ड के० कल्चरल एसोसिएशन	नमीं आवाज़	मोहन सिंह
४.	रूपवाणी कला मन्दिर	एक और द्रोणाचार्य	डॉ० शंकर शेष
५.	महाशक्ति कला मन्दिर	पागल ग्रेजुएट	
६.	बहुरंगी	जुलूस	बादल सरकार

इस स्पर्धा में प्रदर्शित नाटकों में से निर्णायक मण्डल ने किसी भी नाटक को प्रथम पुरस्कार के योग्य नहीं पाया। 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'जुलूस' को द्वितीय पुरस्कार संयुक्त रूप से प्रदान किया गया।

● गणतन्त्र दिवस के सम्बन्ध में आयोजित समारोहों की शृंखला में अकादमी ने अपना योगदान २८-१-७९ को एक अखिल भारतीय उर्दू कवि-

सम्मेलन आयोजित करके किया। भाग लेने वाले कवियों के नाम इस प्रकार हैं :—

सर्वश्री सलीम शीराज़ी, मनमोहन तल्ख, राज नारायण राज़, कृष्ण कुमार तूर, बशीर बदर, क़ैसर कलंदर, शहरयार, फ़ना निज़ामी कानपुरी, हामिदी कश्मीरी, अशरफ साहिल, हकीम मंजूर, मैकश कश्मीरी, अर्श सहबाई, आबिद मुनावरी, मुहम्मद यासीन, प्रितपाल सिंह बेताब, जगन्नाथ आज़ाद, मंज़र आज़मी तथा श्रीमती शाहजहान बानो याद देहलवी।

● 'कत्थक' एवं 'ओडिसी' नृत्य-शैलियों के प्रदर्शन में अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सोनल मानसिंह ने १९ मार्च ७९ को अभिनव थियेटर में 'कत्थक' नृत्य का भावभीना प्रदर्शन कर दर्शकों को मुग्ध कर दिया।

●

शीराज़ा के स्वामित्व तथा अन्य व्यौरे के विषय में

विज्ञप्ति पत्र

१. प्रकाशन का स्थान	: जम्मू तवी
२. प्रकाशन की अवधि	: त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम और राष्ट्रीयता	: श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग भारतीय
पता	: जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू।
४. प्रकाशक का नाम और राष्ट्रीयता	: श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग भारतीय
पता	: जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, नहर मार्ग, जम्मू।
५. सम्पादक का नाम और राष्ट्रीयता	: श्री रमेश मेहता भारतीय
पता	: जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, नहर मार्ग, जम्मू।
६. उन व्यक्तियों के नाम एवं पते जो पत्र के स्वामि, भागीदार अथवा एक प्रतिशत से अधिक पूंजी के हिस्सेदार हैं।	: जम्मू एण्ड कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, नह मार्ग, जम्मू।

मैं, मुहम्मद यूसुफ़ टेंग, एतद् द्वारा यह घोषित करता हूं कि उपरिलिखित विवरण मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर.........................

(मुहम्मद यूसुफ़ टेंग)

सचिव, जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट,
कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, जम्मू।

. N. 22871/78 Sheeraza Hindi Jammu, March, 197

A Publication of
J & K Academy of Art, Culture and Languages,
Canal Road, Jammu.